विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

धने गृहे यदासक्ताः सेवकाः सम्भवन्ति हि।
लाभपूजार्थयत्नाश्च तदा स्यात् कुपितो हरिः ॥१॥
भक्तिमार्गं परित्यज्य शिश्नोदरकृतोद्यमाः।
आसुरावेशिनो दासाः तदौदास्यं भवेद् हरेः ॥२॥
अहङ्कारेण कुर्वन्ति तथा महदतिक्रमम्।
निजाअपि तदा कृष्णः कुप्यति स्वजनप्रियः ॥३॥
यदा महत्कुलोद्भूताः त्यजन्ति कुलगा गतिम्।
तदातु तत्कुलस्वामी क्रोधमेति न संशयः ॥४॥
अन्विष्यतां हि सर्वत्र न क्वापि सुपथस्थितिः।
नवा निजाचार्यनिष्ठा नवा दैन्यं हरेः परम् ॥५॥
नवा तद्वाक्यपरता न वैराग्यं तथाविधम्।
न यथालाभसंतोषः कथं कृष्णः प्रसीदति ॥६॥

॥ इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचितं बहिर्मुखत्वनिरूपणम् ॥

गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचिता

विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्यामनोहरविरचिता

लेखक-प्रकाशक : गोस्वामी श्याम मनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी, ४था रस्ता, जुहुस्कीम,
पार्ले, मुंबई ४०० ०५६.

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०५८.
प्रति : १०००

निःशुल्क वितरणार्थ

मुद्रक : शैलेश प्रिन्टर्स.
१४, चुनावाला इन्डिष्ट्रियल इस्टेट,
कोंडी-वीटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबइ ४०० ०५९.

चिरञ्जीवी श्रीव्रजवल्लभजी

तथा

चिरञ्जीवी श्रीअनुरागजी

के

वंशजोंके

भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डवाङ्मरीचिबोधोदयविकसित

निःशेषनिस्सारितदेवलकताकलङ्कपङ्कहृत्पद्मश्री

पुष्टिभावपरागप्राचुर्यप्रयुक्तसौगन्ध्यकीर्ति

सुसमृद्धभविष्यको

समर्पित

❋

गोस्वामी श्याममनोहर

प्रकाशकीय

कोई धर्मार्थी, अर्थार्थी, कामार्थी, मोक्षार्थी, भक्त्यर्थी अथवा स्वाराध्यभगवत्सुखैकार्थी व्यक्ति अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा कैसे करता है—रूक्ष कर्तव्यरूपमें, या आजीविकाके उपार्जनोपायके रूपमें, या अपने सांसारिक शोखशोजोंके साधनोंको जुटानेके उपायके रूपमें, या सांसारिक तापक्लेशोंसे छुटकारेके उपायके रूपमें, या महद्विभृग्यभक्तिको पानेके उपायके रूपमें अथवा अपने सेव्यस्वरूपके सुखसन्तोषके उपायके रूपमें—यह उसका अपना स्वातन्त्र्य है जिसके बारेमें कुछ भी रोक-टोक करनेको मैं अपने-आपको अधिकारी नहीं मानता. फिर प्रस्तुत 'विशोधनिका' में इतने उग्रभावोंको इतनी उग्रभाषामें प्रकट करनेका औचित्य क्या?

गुजराती भाषाके प्रसिद्ध कवि श्रीमुकुल चोकसीके काव्यभावोंको मैं अपनी सफाई देनेके रूपमें दोहराना चाहूंगा:

ये और कुछ नहीं इक हृदयसे उठी है भाप.
ठंडी पड़ी तो पानी पर छू लिया तो ताप.

इन उग्रभाव और उग्रभाषा को ठंडे करनेकी शर्त केवल यही है कि या तो कोई मुझे समझाये कि महाप्रभु-प्रभुचरणके नामपर भगवत्सेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन जो आज वल्लभसम्प्रदायमें चल रहा है वह उनके किस वचनके आधारपर धर्म्य माना जा सकता है? अथवा जिसे जो करना हो करे पर अपने सिद्धान्तविपरीत कृत्योंको इन दिव्य आचार्योंके सिद्धान्त एवं परम्परा के रूपमें प्रस्तुत न करे!

इसका अधिकांश भाग वि.सं.२०५० में लिखा जा चुका था किन्तु पुद्रणार्थ दिया नहीं जा सका. हालमें चि.सौ.बिन्दु बहुजीद्वारा कोई प्रकाशनार्ह मेटर हो तो कम्प्युटरमें फीड करनेको मांगनेपर उनके उत्साह एवं परिश्रम के वश; इसी तरह, अन्यभी मेरे अनेक सहयोगी वैष्णवोंके आर्थिक तथा सक्रिय सहयोग वश अब यह प्रकाशित होने जा रहा है.

पवित्रा बारस, वि.सं. २०५८. *गोस्वामी श्याम मनोहर*

आमुख

॥ दुःसंगविज्ञानप्रकारनिरूपणम् ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यकृपया स्फुरितं हृदि।
स्वीयानामभ्रमार्थाय किञ्चिदत्र निरूप्यते ॥१॥

अब श्रीवल्लभाचार्यचरणकी कृपासे हृदयमें जो कुछ स्फुरित हो रहा है, उसे पुष्टिमार्गीयोंके भ्रमोंको दूर करनेके लिये निरूपित किया जाता है.

दैवासुरविभागेन द्वेधा जीवाः प्रकीर्तिताः।
बन्धमोक्षव्यवस्थापि गीतायामेव रूपिता ॥२॥

जीवोंकी सृष्टिके दो प्रकार : (१)दैव और (२)आसुर के विभागशः कहे गये हैं. स्वयं भगवद्गीतामें ही "दैवी सृष्टि मुक्तिके लिये तथा आसुरी सृष्टि बन्धनके लिये निर्मित हुई है" यह भी कहा गया है.

दैवेष्वपि च जीवेषु यदङ्गीकरणं पुनः।
भक्तिमार्गे तएवात्र प्राप्स्यन्ति पुरूषोत्तमम् ॥३॥

दैवी सृष्टिके अन्तर्गत भी जिसका भक्तिके हेतु प्रभुने वरण किया होता है, वही इस भक्तिमार्गमें पुरुषोत्तमको पा सकता है.

तत्रापि भेदो विज्ञेयो मर्यादापुष्टिभेदतः।
मार्गे फलेऽपि विज्ञेयो भक्तिमोक्षविभेदतः ॥४॥

भक्तिमार्गमें भी मर्यादाभक्ति तथा पुष्टिभक्ति का भेद होता है, यह जान लेना चाहिये. इसके कारण मार्गके स्वरूप तथा फलके स्वरूपमें भक्तिके लिये भक्ति तथा मुक्ति के लिये भक्ति करनेके

प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं.

भक्तावङ्गीकृत्यभावे दैवानामपि सर्वथा।
कामनिष्कामभेदेन स्वर्गमोक्षौ न संशयः ॥५॥

भक्ति करवानेके लिये जिनका भक्तिमार्गमें अङ्गीकार न हुवा हो तो वे जीव, दैवी सृष्टिके जीव होनेपर भी, सकाम होनेपर स्वर्गादिफल और निष्काम होनेपर मोक्ष ही केवल पा सकते हैं.

विज्ञेयं वरणं भक्तौ तदर्थित्वैककार्यतः।
तदर्थित्वं च विज्ञेयं भजनार्थप्रवृत्तितः ॥६॥

जब केवल प्रभुको ही पानेकी कामना हो तो प्रभुने भक्तिके लिये वरण किया है, ऐसे समझ लेना चाहिये. यदि भगवद्भजन करनेके लिये प्रवृत्ति हो पाती हो तो समझना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिकी वास्तविक कामना है.

तत्रादौ शरणं गच्छेत् महापुरुषयोगतः।
महापुरुषपारोक्ष्ये तन्निर्देशैरपि सर्वदा ॥७॥

भगवद्भजनमें प्रवृत्त होनेके लिये महापुरुषों (श्रीभागवततत्त्वज्ञ, दम्भादिरहित, कृष्णसेवापरायण आचार्यवंशजो) के द्वारा भगवत्-शरणागति प्राप्त करनी चाहिये. यदि वैसे योग्य महापुरुष न मिलते हों तो अन्य भगवदीयोंद्वारा भी भगवत्-शरणागति ग्रहण करनी चाहिये.

तत आश्रयसंसिद्धौ सेवार्थं स्वसमर्पणम्।
समर्पणे जीवदेहतत्सम्बन्धवतामपि ॥८॥
ब्रह्मसम्बन्धतः कृष्णसाक्षात्सम्बन्धयोग्यता।

भगवत्-शरणागति ग्रहण करनेके बाद भगवदाश्रयको दृढ़ बनानेके उपाय करने चाहिये. वह दृढ़ होनेपर भगवत्सेवाके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये (अर्थात् शिथैषणालोभवशाद् आज-कल दृढ़ाश्रयके बिना दिये जाते ब्रह्मसम्बन्धको 'भ्रमसम्बन्ध' ही समझना चाहिये) जीवात्माके सम्बन्ध देह और देहके साथ सम्बन्धित सकल चेतनाचेतन वस्तुओंके

भगवान्को समर्पित करनेपर उनका ब्रह्मसे सम्बन्ध जुड़ जाता है. अतः श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवामें सम्बद्ध होने लायक भी.

ततस्तत्सेवया स्वीयसर्वस्वविनियोगतः ॥९॥
गृहीतपरमानन्दनिधिः कृष्णोऽक्षयः स्मृतः।
अतस्तु सावधानित्वं विधेयं भगवज्जनैः ॥१०॥
सम्प्राप्तनिधिभिः चौरेभ्योऽपि विशेषतः।

अपने-आपको सेवायोग्य बना लेनेके बाद भगवत्सेवामें अपने सर्वस्वके विनियोग करते रहनेपर अपने घरमें बिराजमान श्रीकृष्णका स्वरूप स्वयं ही अक्षय परमानन्दकी निधि बन जायेगा. अतः श्रीकृष्णरूप निधि पा जानेवाले भगवदीयोंको चोर-उचोरोंसे पूरी तरह सावधानी बरतनी चाहिये.

चौरास्तु द्विविधाः ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥११॥
बाह्याः कुटुम्बरूपा ये ते तु वित्तहराः स्मृताः।
यतस्तद्विनियोगेन वित्तं याति समर्पितम् ॥१२॥

चोर दो तरहके होते हैं : बाह्य और आभ्यन्तर. इनमें बाह्य चोर अपने वित्तहारी कुटुम्बिजन ही होते हैं. ये पता भी नहीं चलने देते कि भगत्सेवार्थ विनियोगार्ह अपना सारा वित्त न जाने कैसे केवल कुटुम्बनिर्वाहमें ही विनियुक्त होता रहता है!

आन्तराः कामलोभाद्याः चित्तमात्रहरास्तु ते।
यतो बहिर्मुखं चित्तं सेवायां प्रविशेद् नहि ॥१३॥
चित्तवित्तैकसाध्या हि सेवा चापि न सिद्धचति।
तदभावेऽखिलं व्यर्थं पुरुषार्थपरिक्षयात् ॥१४॥

आभ्यन्तर चोर हमारे चित्तको ही हर लेनेवाले स्वयं हमारे भीतर रहे काम-लोभ आदि दुर्गुण होते हैं. इनके कारण बहिर्मुख बना चित्त कभी भगवत्सेवामें जुट ही नहीं पाता है. सेवा तो निज चित्त-वित्तसे ही साध्य होती होनेसे सिद्ध नहीं हो पाती है. सेवाके बिना तो किया-धरा सब कुछ व्यर्थ ही होता है, पुरुषार्थके परिक्षयके कारण.

अतो विवेकधैर्यादिशस्त्रयुक्तैः तथा पुनः।
आन्तरास्ते निराकार्या बाह्यास्तेतु यथाक्रमम्॥१५॥
सेवाकारणतद्रोधपरित्यागादिसाधनैः।

अतः विवेक-धैर्य-आश्रयके शस्त्रोंसे सुसज्ज रहते हुवे आभ्यन्तर चोरोंको डरा कर भगा देना चाहिये. इसी तरह बाह्य चोरोंको भी सेवाके उपायरूप अपने चित्त और वित्त को भगवत्सेवामें निरुद्ध रख कर; अन्यथा, भगवत्सेवामें से अपने चित्त और वित्त को चुरानेवालोंमें ममताके परित्यागद्वारा या अन्य भी ऐसे किन्हीं शक्य उपायोंद्वारा.

वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुध्यताम्॥१६॥
यतस्तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम्।
विनयः शान्तता वेशः शङ्खचक्रादिचिह्नितः॥१७॥
एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभिः।
ततो ज्ञानाभावतोऽपि सर्वथा नाशनं मतम्॥१८॥

चोरोंकी तुलनामें वञ्चक अधिक दुष्ट होता है क्योंकि उसकी आकृति चेष्टा आचार भाषण विनय शान्तता वेश शंखचक्र आदि तिलक-मुद्रा आदिसे अपने-आपको सजाधजा कर रखना आदि सभी बातें भगवद्धर्मवर्तिओंके जैसी होती हैं. परिणामतया ऐसे वंचककी वास्तविकताको पहचान पाना बहोत ही मुश्किल काम होता है. अतएव ऐसे वंचकद्वारा ठगे जानेपर आत्मनाश सर्वथा निश्चित ही होता है.

दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसंवृतेः।
अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारतः॥१९॥

भक्तोंके जैसे भेख बनाये रखनेके कारण ऐसे वंचकोंको पहचान पाना बहोत कठिन काम होता है. अतः बिना विचारे हर किसीपर विश्वास कभी भी नहीं कर लेना चाहिये.

तदीयत्वभ्रमात् तस्मिन् विश्वासः सङ्गदोषतः।
असत्यपि च सद्भावात् पतनं भक्तिमार्गतः॥२०॥
अतएवोक्तम् आचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणम्।

'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिषष्ठे निबन्धगे॥२१॥

भगवद्भक्त होनेकी भ्रान्तिके वश विश्वास रख कर संगदोषके कारण असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेका परिणाम यह निकलता है कि जीव भक्तिमार्गसे च्युत हो जाता है. अतएव सर्वनिर्णय निबन्धमें आचार्यचरणने गुरुके भी वीक्षणकी बात "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य" कारिकामें दिखलायी है.

नन्वेतस्य परिज्ञानं कथं भवति सर्वथा।
ज्ञाने सति परित्यागः कर्तव्योऽस्य सतां भवेत्॥२२॥
भवेच्च चोरविज्ञानं शास्त्रतो धर्मदर्शनात्।
नहि वञ्चकविज्ञानं साम्यतो भगवज्जनैः॥२३॥
न कोऽपि सदृशो धर्मो वैलक्षण्यावबोधकः।
मृगाणामिव साधूनां मृगयोरिव गायने॥२४॥
सतोऽपि किञ्चिद् आधिक्यं वञ्चकेषु प्रतीयते।
प्रदर्शनार्थत्वस्तु वेषादेरिह सर्वथा॥२५॥
गृहसंवासतो ज्ञेय इति चेत् तन्न युज्यते।
संसर्गे बुद्धिनाशेतु मोहाद् न ज्ञानसम्भवः॥२६॥
ज्ञानाभावे भवेदेव तत्क्रिया सार्थकाखिला।
संसर्गमात्रतो नाशे कस्य ज्ञानोदयो भवेत्?॥२७॥
न ज्ञापयति चात्मानं वाचन्नाशं स वञ्चकः।
नाशयित्वैव भवति निजरूपसमास्थितः॥२८॥
मार्गास्थितेर् भवत्येव तादृशोऽत्यन्तबाधकः।
बलाद् न मारयत्येष प्रबोध्यैव च घातकः॥२९॥
छलबुद्धिर्विनाशाय न बलं तस्य साधनम्।
अज्ञातः सर्वथा हिंस्रो ज्ञातो नैव हि बाधकः॥३०॥
ज्ञानन्त्वशक्यं तस्येति न निस्तारो कथञ्चन।
इति चेत्.....

यहां एक शंका उठती है कि ऐसे वंचककी वास्तविकताको पहचानना कैसे? क्योंकि पहचान पानेपर ही कोई भला आदमी किसी दूसरे आदमीसे कतरा सकता है. अपने भीतर या बाहर रहनेवाले चोरोंको

तो शास्त्रोंके उपदेशके आधारपर जाना जा सकता है परन्तु वंचकजन तो भक्तजनोंके जैसा ही दिखलायी देता होनेसे पहचाना नहीं जा सकता. भक्तजनोंसे वंचकजनोंको अलग-थलग कर पाये ऐसी कोई विलक्षणता नहीं दिखलायी देती, जैसे मृगोंको साधुपुरुषोंकी वनमें उपस्थिति और शिकारिओंकी वनमें उपस्थिति का प्रभेद समझमें नहीं आता. प्रत्युत वंचकजनमें तो भक्तजनोंसे भी कुछ अधिक ही भक्तिभाव दिखलायी देता होता है. क्योंकि उसके वेष आदि सभी कुछ प्रदर्शनार्थ ही तो होते हैं. घरमें साथ रह कर उसकी वास्तिविकताको जाननेके प्रयासमें तो उसके संगके कारण बुद्धिनाशकी ही पूरी सम्भावना रहती होनेसे ऐसे वंचकोंको जान पाना शक्य ही नहीं लगता. जाने बिना तो वंचककी सारी चालें सफल होंगी ही. और संसर्गमात्रसे नाश होनेकी बात जो कही जा रही है सो वंचकका ज्ञान किसे हो सकता है! हमारा पूर्ण नाश किये बिना वंचक अपना असली रूप तो प्रकट करेगा नहीं और नाश करनेके बाद असली रूपके उजागर हो जानेका कोई लाभ नहीं. सन्मार्गसे हमें भटका देनेको वंचकजन कभी बलजबरी तो करता नहीं होता. वह तो हमें भरमा कर ही मारता होता है. हमें नष्ट कर देनेको वह बल नहीं वापरता किन्तु चालाकीसे ही अपना काम निकालता है. उसे जान न पायें तो उसके जैसा हिंस्र अन्य कोई हो नहीं सकता और जान लेनेपर वह तो वह अन्यत्र छटक जाता है. अतः वंचकजनको पहचान पानेकी इस कठिनाईके कारण इस समस्याका कोई समाधान ही समझमें नहीं आता!

.....तत्र सिद्धान्त उपायः परिकीर्त्यते ।।३१।।
भगवद्भक्तसाम्येऽपि तदसाधारणो गुणः ।
निरपेक्षत्वमेतस्मिन् तदभावाद्धि वञ्चकः ।।३२।।
अनाकारितएवासौ सङ्गे लगति सर्वथा ।
प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन ।।३३।

इस ऐसी शंकाके समाधानतया यह जान लेना चाहिये कि भक्तजनके साथ अन्य सभी बातोंमें वंचकजन समान होनेपर भी एक बात उसकी वास्तविकताको पहचाननेका उपाय बन ही जाती है. वह यह कि भक्तजन निरपेक्ष होते हैं वंचकजन कभी निरपेक्ष नहीं हो सकता. वह तो बिन बुलाये हमारे पीछे पड़ना चाहता है जबकि भक्तजन तो कई बार बुलाये जानेपर भी मुश्किलसे कभी-कभाक प्रसन्न हो कर हमारे साथ होना चाहेगा.

स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः ।
दीनेषु भगवद्भक्तास् तदर्थैकप्रसादकाः ।।३४।।
चालयत्यधमुन्मार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः ।
तेतु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः ।।३५।।
एवं विज्ञाय बुद्धयैव वैलक्षण्यं हि वञ्चके ।
तत्सङ्गं तत्र सद्भावं तन्माहात्म्यं परित्यजेत् ।।३६।।

वंचकजन स्वार्थमोहित होनेके कारण धनिकोंकी ही अधिक पूछ-परछ करता है, जबकि भक्तजन तो दीनजनोंपर प्रसन्न हो कर केवल उसके हितकी बात ही उसे समझाते हैं, क्योंकि अपने स्वयंके स्वार्थको सिद्ध करनेकी मनोवृत्ति भक्तजनोंमें नहीं होती. वंचकजन मीठी-मीठी चापलूसी भरी बातोंके द्वारा उन्मार्गकी ओर हमें ले जाना चाहता होता है जबकि भक्तजन तो कडुवी दवाके जैसी बातें करके भी सन्मार्गकी ओर ही ले जाना चाहता है. इस तरह भक्तजन और वंचकजन के बीच रही विलक्षणताको अपनी बुद्धि लगा कर समझ लेनेके बाद वंचकजनका संग, उसके प्रति सद्भाव और उसकी महत्ता का विचार मनमेंसे दूर कर देना चाहिये.

अन्यथा मार्गनिष्ठोऽपि विनाशं प्राप्नुयाद् नरः ।
अतएवास्मदाचार्यैर् उक्तं स्वीयकृपालुभिः ।।३७।।
"पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव गतिर्मम" ।

अन्यत्राप्युक्तमेव हि शिक्षापद्येषु सर्वथा ॥३८॥

अन्यथा पुष्टिमार्गमें निष्ठा रखनेवालेका भी विनाश हो सकता है. अतएव निजजनोंपर कृपा करनेको श्रीमदाचार्यचरणने भी कहा है "इस पाषण्डसे भरी दुनियामें श्रीकृष्ण ही मेरी एक गति है" हमनें भी शिक्षापत्रोंमें इस विषयका निरूपण भलीभांति किया है.

प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्स्युरु उपेक्षैवोचिता तदा।
एवं विज्ञाय सततं स्थेयं वै सावधानिभिः ॥३९॥
सेवापरैः कथासक्तैः सत्सङ्गपरिशोधकैः।
बाह्यव्यापाररहितैः भगवद्भावभावुकैः ॥४०॥
दैन्यमात्रपरिश्रान्तैर् असदालापवर्जितैः।
श्रीकृष्णदर्शनाद्यार्तैर् निजाचार्याश्रिताश्रितैः ॥४१॥

भगवद्भक्तोंके भीतर भी यदि प्रावाहिकताके ही लक्षण दिखलायी देते हों तो उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिये. यह ऐसी सावधानी जो भगवान्‌की सेवा और कथा में परायण रहना चाहते हों, जिन्हें अपने सत्संगको परिशुद्ध रखना हो, जिन्हें बाह्य व्यापाररहित हो कर भगवद्भावकी भावना करनी हो, जो दैन्यभाववश निरर्थक साधनाडम्बरोंमें उलझना न चाहते हों, जो असदालापसे परे रहना चाहते हों, जिन्हें श्रीकृष्णदर्शनादिकी आर्ति निजाचार्यचरणाश्रितोंके आश्रित रहनेके कारण प्रबल हो उन्हें सतत बरतनी चाहिये.

*श्रीमत्कल्याणरायात्मजहरिराय**

**महानुभाव श्रीहरिरायचरणविरचित इस दुःसंगविज्ञानप्रकारसे अधिक उपयुक्त प्रस्तुत विशोधनिकाका आमुख और क्या हो सकता है? इसमें जैसे दूषणोंसे बचनेकी बात श्रीहरिरायजी सभी पुष्टिमार्गिओंको समझा रहे हैं. वे वे बातें है जो पुष्टिमार्गीय आधुनिक हवेलिओंको व्यावसायिक रूपमें चलानेवाले हम गोस्वामिवर्ग तथा इनकी तरह ही वैष्णव प्रेतात्माओंको धुंधुकारीसदृश सिद्ध करनेवाली भागवतसप्ताहोंके कथाव्यासोंकी पुष्टिमार्गीय उपयोगिताको मापनेको सर्वथा उपकारक मानदण्ड है.*

गो. श्या. म.

विशोधनिका

(तृतीय प्रकरण)

विषयानुक्रमणिका

परिच्छेद		पृष्ठ
(१) उपक्रम.....		१-१८
(२) 'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गत		
	संकलित-विषयवाक्यविचारे 'विमर्श'विशोधन.....	१९-५२
	संग्रहकारिका	५२-५३
(३) 'सेवोपदेशदीक्षा'-'सेवोपदेष्टा'		
शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे		
	'विमर्श'विशोधन.....	५४-८२
	संग्रहकारिका	८२-८४

(४) 'सेव्यस्वरूप'शीर्षकान्तर्गत

संकलितविषयवाक्यविचारे

'विमर्श'विशोधन..... ८५-११३

संग्रहकारिका ११३

(५) 'सेवाप्रदर्शन'शीर्षकान्तर्गत

संकलितविषयवाक्यविचारे

'विमर्श'विशोधन..... ११४-१३७

संग्रहकारिका १३७-१३८

(६) पुष्टि-अस्मिता..... १३९-१४२

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

विशोधनिका

(उपक्रम)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले-मुम्बई) में विचारणार्थ तदाप्रस्तुत सभावानुवाद सिद्धान्तवचनावलीमें के (१) सेवोपदेशदीक्षा (३) सेवाप्रदर्शन (४) सेवाप्रयोजन (६) सेव्यस्वरूप (९) सेवोपदेष्टा शीर्षकोंके अन्तर्गत संकलित वचनोंद्वारा विवक्षित सिद्धान्त इस प्रकरणके मुख्य विचार्य विषय हैं. साथ ही "विमर्श" ग्रन्थमें वर्णित अपसिद्धान्तोंका निराकरण भी.

(विचार्यविषयसिंहावलोकन)

'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत वचन, वैसे तो, सिद्धान्तवचनावलीमें संकलित अथवा असंकलित सिद्धान्तनिरूपक सकल वचनोंके वास्तविक अभिप्रायोंको जाननेके निकष (कसोटी)रूप हैं. फिरभी इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि सेवाप्रयोजनको इदमित्थतया निर्धारित करनेवाले अन्य भी अनेकानेक वचन समयाभाववश तथा स्थानसंकोचवश मुझसे छुट भी गये ही हैं. साथ ही साथ यह भी भूलना नहीं चाहिये कि सिद्धान्तवचनावलीके तेरह-के-तेरह विचार्यविषयोंके वास्तविक स्वरूपको समझना हो तो ये तीन ही वचन पर्याप्त प्रकाशदायी हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं. अतएव इनका उपजीवन केवल आवश्यक ही

नहीं अपितु अनिवार्य ही है. कई अपठित एवं पण्डितम्मन्य देवलकोंके द्वारा प्रचारित किया जा रहा है कि इतने ही वचनोंको ले कर क्यों विचार किया गया—अन्य वचन क्या एतद्विषयक ग्रन्थोंमें हो नहीं सकते हैं या मैंने पढ़े ही नहीं हैं? समाधानतया यह कथनीय हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमें भी जिस अधिकरणमें, जिस श्रुतिवचनको प्रथम अधिकरणांग अर्थात् विषयवाक्य बनाया जाता है, वहां भी उस वचनके अलावा सम्बद्ध विषयके निरूपक उपनिषदोंमें अन्य भी अनेक वचन मिलते ही है. कभी इस तरहकी बचकानी बातें शास्त्रीय चर्चामें उठायी नहीं गयी कि शांकर, भास्कर, रामानुज, माध्व या वाल्लभ भाष्योंमें जो वचन जिस अधिकरणके विषयवाक्यतया उपस्थापित किये गये हैं, उस विषयके निरूपक ओर भी वचनोंका विन्यास क्यों नहीं किया गया? क्योंकि अधिकरणशैलीके विचारमें जो वाक्य विषयवाक्यतया प्रस्तुत नहीं हुवा हो उसे भी संशयकी या पूर्वपक्षकी या उत्तरपक्षकी या संगतिकी कोटीमें भी प्रस्तुत तो किया ही जा सकता है. वाल्लभ सम्प्रदायका, परन्तु, आज यह कैसा दुर्भाग्य है कि अधिकांश उपदेशक या तो अपठित हैं या पल्लवग्राही पाण्डित्यवशाद् "एण्डोऽपि द्रुमायते" उक्तिके मूर्तिमान स्वरूप! फलतः ऐसी अनर्गल बातें करके भोली जनताको बरगलाते रहते हैं!

सेवाके यथोपदिष्ट स्वरूपके निर्धारणार्थ, जैसे सेवाके प्रयोजनका बोध आवश्यक है, वैसे ही सेवोपयोगी स्थल, सेवार्थ आजीविका, सेवाकर्ता-तथा-परिचारक, सेवोपदेष्टा तथा स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसादग्रहण इनसे सभी सम्बन्धित सभी उपदेशोंका भी अभिप्राय 'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोके उपजीवन द्वारा ही शक्य है.

इस बातको छेड़नेका मुख्य हेतु यही है कि 'विमर्श' ग्रन्थके वास्तविक लेखक पू.पा.गो.श्रीवल्लभराय दीक्षितने, अथवा नामदायी लेखक पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने ही सही, अपने-आपको

नियोगपर्यनुयोगार्ह स्वतन्त्रविचारकके रूपमें प्रस्तुत करनेके हेतुसे उक्त पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाके सन्दर्भमें मेरे द्वारा किये गये विधानोंकी आलोचना करनी चाही है. अतएव आलोच्य विधानोंको यथाप्रदत्त क्रमसे च्युत किया गया है. अतः यह आवश्यक हो जाता है कि विमर्शक्रम तथा सिद्धान्तवचनावलीक्रम का परस्पर सम्बन्ध एक बार बुद्धिगत कर लिया जाय.

तदनुसार 'विमर्श' के प्रथम कृष्णसेवा प्रकरणमें सिद्धान्तवचनावलीके मुख्यतया 'सेवा-स्वरूप' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोंकी विचारणा की गयी. गौणतया सेवास्थल, सेवार्थ आजीविका एवं सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक शीर्षकोंवाले वचनोके अभिप्रायोंका कहीं-कहीं स्पर्श किया गया है. तदनुसार ही मुझे भी 'विशोधनिका'के प्रथम प्रकरणको भी चलाना पड़ा.

पश्चात् 'विमर्श'के द्वितीय एवं तृतीय प्रकरणोंमें अर्थात् देवद्रव्यप्रकरण एवं देवलकताप्रकरण में, क्योंकि देवके द्रव्यसे किंवा पूजनसे जीवननिर्वाह चलानेवालेको 'देवलक'कहा जाता है. अतः, दोनोंको एककाय बना कर 'शास्त्रीय सन्दर्भमें : पुष्टिमार्गीय सेवार्थ आजीविकाका स्वरूप' नामक 'विशोधनिका' का द्वितीय प्रकरण प्रकाशित किया गया था.

अब क्रमप्राप्त 'विमर्श'के चतुर्थ प्रकरण एवं 'विशोधनिका'में प्रतिज्ञात 'वार्ताविमर्श' प्रकरणको छोड़ कर 'विमर्श'के पूर्वार्धके अन्तिम 'भावसंगोपनप्रकरण'के विशोधनकी प्राथमिक आवश्यकता कुछ गंभीर अवलोकन द्वारा दृष्टिगत हुयी है. अतः प्रतिज्ञात क्रमके त्याग तथा व्युत्क्रमावलम्बन की क्षमायाचना करते हुवे एक खुलासा मैं देना चाहूंगा. वह यह है कि विमर्शकारद्वारा अपनायी गयी विमर्शनीतिकी एक खासीयत यह है कि न्यूनतम सिद्धान्तवचनोंका अवलम्बन कर अर्थात् बने वहां तक वार्तासाहित्यमेंसे सदाचारके निकषपर कण्ठोक्त विधि-निषेधात्मक

वचनोंके अभिप्रायोंका अन्यथोन्नयन कर देना, बजाय कि वचनोंके आधारपर चरित्रको समझ कर उसकी व्याख्या करनेके.

पुष्टिमार्गके इतिहासमें सिद्धान्तनिर्णयार्थ 'विमर्श'की इस नूतन व्याख्यानीतिका पदार्पण; अत:, इस विमर्शशैलीद्वारा हुवा है. इसका एक दुर्लाभ तो बिलकुल सक्षमतया सामने आया ही है कि आधुनिक गोस्वामिओंके उपदेशविरुद्ध अनेक आचरणोंकी मूलाचार्योंके चरित्रसे आपाततो रमणीय कोई न कोई उपपत्ति तो मिल ही जाती है! यह कण्ठोक्त वचनकी मर्यादामें बन्धनेपर सर्वथा अशक्यप्राय काम था. अतएवं 'विमर्श' के सभी कर्थ्योंके ईदृगिर्द वार्तासाहित्यके उद्धरणोंके बाहुल्यका एक समूचा दुर्ग सा निर्मित किया गया है! यह उतनी आपत्तिजनक बात नहीं है जितनी कि इस दुर्गके ईदृगिर्द, उसे और भी दुर्गम बनानेके, बचकाने आक्षेपकी जो खाई खोदी गयी है :

> ''सुनते हैं कि अब वार्ताग्रन्थ आदिको अप्रामाणिक सिद्ध करनेके लिये किसी ग्रन्थका प्रणयन श्रीपुरुषोत्तम आदिके नामसे उसे प्रकाशित करने का उपक्रम चल रहा है. सम्प्रदायानुरागी सभी लोगोंको इससे सतर्क रहना चाहिये और इसका जम कर विरोध करना चाहिए.''
>
> (विम.पृ.सं.८३ पर स्थूलाक्षरोंमें मुद्रित पंक्तियाँ)

शालीन विचारणाशैलीकी शीर्षावरक शालं ओढ़ कर किये गये, इस नामोल्लेखरहित आक्षेपको, कोई आवश्यकता नहीं कि मैं अपने बारेमें ही किया हुवा मान कर चलूं, फिरभी पूर्वपक्षकी अधिकांश उक्तिओंमें मेरे ही विधान संकलित हुवे हैं, अत: अपने बारेमें किया हुवा मान कर स्पष्टीकरण देने मैं सन्नद्ध हूं :

(१) विगत दस-पंदरह वर्षोंमें महाप्रभु-प्रभुचरण-श्रीपुरुषोत्तमजी प्रभृति पूर्वाचार्योंके मूल ग्रन्थोंको सम्पादित संशोधित-प्रकाशित करनेकी मेरी

अदम्य हार्दिक भावना तथा नम्र प्रवृत्ति चल ही रही है. भगवान् न करे कि विमर्शकार द्वारा आशंकित कुत्सित मनोवृत्ति मेरे मनमें कभी पनप पाये!

(२) पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें प्रतिपक्षिओंद्वारा प्रस्तावित एक शर्त यह भी थी कि वार्तासाहित्य या भाषासाहित्य में से कोई भी वचन मैं विचारार्थ प्रस्तुत न करूं, क्योंकि प्रतिपक्षियोंको वार्तासाहित्य एवं भाषासाहित्य का प्रामाण्य नि:सन्दिग्ध नहीं लगता था. अतएव संकलित भी कुछ वचन सिद्धान्तवचनावलीमें से निकाल कर परिशिष्टमें अमृतवचनावलीमें उद्धृत करने पड़े थे. चि.हरिरायजी, वैसे अघोषित प्रतिनिधि परन्तु बादमें पु.सि.सं.शि.तया घोषित, ने भी चर्चाके दरम्यान, अपने शाखाचंक्रमणशील विलक्षण स्वभावके अनुरूप, अस्पष्टोल्लेख द्वारा यह बात स्वीकारी ही थी (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव. पृ.सं.१७८).

(३) स्वयं सूरतसे प्रकाशित राजनगरवाले नि.ली.श्रीरणछोड़लालजीके वचनामृतमें ऐसी अक्षम्य अनधिकारचेष्टाका उल्लेख तो मैंने विशोधनिकाके प्रथम प्रकरणमें किया ही था (द्रष्टव्य : विशो.आमु.पृ.सं.१६-१७) परन्तु यहां अब इस आक्षेपके सन्दर्भमें पुन: एक और रहस्य उद्घाटित करना चाहूंगा कि सूरतके मोटे मन्दिरमें बिराजमान श्रीबालकृष्णलालजीका कहीं भी उल्लेख न होनेपर भी तथा प्राचीन पाठोंसे संवादित करनेकी किसी भी तरहके उत्तरदायित्वकी अपेक्षा रखे बिना केवल षष्ठपीठाधीशताके मोहवश स्वयं विमर्शकारके यहांसे प्रकाशित 'दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' में गुजरातसे व्रजयात्रा करने आनेवाले भगवदीयकी वार्तामें श्रीबालकृष्णलालका उल्लेख डलवा दिया गया है! अत: ''आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स: पण्डित:'' के इस पाण्डित्यप्रकर्षके बारेमें अधिक क्या कहा जा सकता है!

(४)नड़ियादकी हवेलीके निजी या सार्वजनिक होनेके केसमें पुष्टिमार्गके

विशेषज्ञ होनेकी हैसियतमें दी गयी गवाहीमें पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने न केवल इस विमर्शविमृष्ट सोनेकी कटोरीवाले प्रसंगको अपितु अन्य भी अनेक वार्तासाहित्यके प्रसंगोंके प्रामाण्यको सन्दिग्ध माना है (द्रष्टव्य : उक्त दावेमें प्रतिवादी नं.१ के साक्षी नं.२ की मौखिक गवाही पृ.सं.२५ तथा २६).

ऐसी स्थितिमें स्वयं पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री ही अब "सतर्क रहने" और "जम कर विरोध करने"की आज्ञा देते हों तो दोनोंसे उनके किस वचनको शिरोधार्य करना? किसका जम कर विरोध करना? क्या उनके उपक्रमपराक्रमसे भयभीत हो जाना या उनकी उपसंहारविजयको अभिनन्दित करना?

(५)वैसे स्वयं मुझेतो स्वयं मूलाचार्योंके श्रीकण्ठोक्त उपदेशोंसे बाधित न होता हो तो अथवा सुरतसे प्रकाशित 'दो सौ बावन वैष्णवन्'की वार्तामें षष्ठनिधित्वके मिथ्योल्लेखकी तरह प्रक्षिप्तताके बलवत्तर प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित न हो तबतक वार्ताप्रामाण्यका सहसा अस्वीकार न कभी मान्य था न है और न हो पायेगा. वार्ता तो श्रीगोकुलनाथजी तथा श्रीहरिरायजी द्वारा लिखी गयी हैं. इन महानुभावोंके वचन हमारी कल्पनाओंके आधारपर अप्रमाण कैसे मानें जा सकते हैं? इन दोनों गुरु-शिष्योंका तो वाल्लभ सम्प्रदायके उत्कर्षोन्नयनमें अनितरसाधारण योगदान है. इनके वचनोंको अप्रमाण मान कर इस सम्प्रदायमें कौन कृतघ्न बनना चाहेगा? खैर, इनकी बात तो दूर, मैं तो जिन विमर्शकारके कुविमर्शकी बिना किसी लागलपेट इतनी स्पष्ट आलोचना लिख रहा हूं, उनके भी वचन यदि मूलाचार्योंकी वाणीसे अविरुद्ध हों तो, जैसे कि 'पुष्टिविधान' आदि प्रकाशनोंमें 'अमृतवचनावली'तया संकलित मैंने किये हैं, उन्हें षोडशग्रन्थादि सदृश नित्यपाठके क्रममें मैं श्रद्धापूर्वक पाठ करता हूं. तो वार्तासाहित्यके मूलाचार्योंके श्रीकण्ठोक्त वचनोंसे अविरुद्ध वार्तासाहित्य या वचनामृतसाहित्य के वचनोंको अप्रमाण *गोस्वामी*

श्याम मनोहर कैसे मान सकता है? मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध तो वाल्लभ सम्प्रदायमें कोई भी वचन प्रमाण हो नहीं सकता है! अतः मैं तो वार्तासाहित्यके उपसंहारविजयका अभिनन्दन ही न केवल वास्तविक विमर्शकार श्रीवल्लभरायजीको अपितु समग्र पुष्टिसम्प्रदायको इस प्रसंगपर देना चाहूंगा! दैर आयद दुरुस्त आयद!!

(६)श्रुति-स्मृति-सदाचार-स्वप्रियके उत्तरोत्तर प्रामाण्यदौर्बल्य तथा "प्रामाण्य स्वतः एवं अप्रामाण्य परतः"के मीमांसाशास्त्रीय सामान्य विवेकके आधारपर सन्देहाई प्रामाण्यवाली वार्ताओंको भी बलवद्बाधक प्रमाणोंके उपलब्ध हुवे बिना सहसा अप्रामाणिक ही मान लेना या कह देना मुझे तो सर्वथा अनभीष्ट है. अतः ऐसी पाषाणोपम कठोर मेरी इस प्रामाण्यधारणापर पड़ते ही यह क्षुद्र आक्षेप तो स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाता है.

(७)श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अभ्यासकर्ताओंके लिये यह अतिरोहितार्थ नहीं है कि भगवल्लीलाओंमें इतिवृत्त जैसे निरूपित हुवे हैं वैसे ही इतिकर्तव्यता भी उपदिष्ट हुई हैं : "भगवान् अपनी लीलाओंको प्रकट करके शास्त्रार्थ भी प्रस्थापित करते है." यह शास्त्रार्थ भी पूर्वोत्तरमीमांसाओंकी तरह कर्तव्योपदेश या तत्त्वोपदेश रूप भी हो सकता है. कर्तव्योपदेशके मूलतः दो प्रकार होते है : विधान और निषेध. इन दोनोंके पुनः तीन अवान्तर प्रभेद होते है : औत्सर्गिक, आपवादिक एवं प्रातिप्रसविक.

इन मुख्य-अवान्तर प्रकारोंमें धर्मविधान तथा अधर्मनिषेध द्वारा धर्माधर्माग्र ग्राह्य-वर्ज्य षडंग देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके विनियोगावि-नियोगकी प्रेरणाद्वारा कर्तव्योपदेश सम्पन्न होता है.

कर्मस्वरूपकी ऐसी जटिलता तत्त्वस्वरूपके बारेमें भी सोची जा सकती है. जैसे देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके सन्दर्भमें कर्तव्योपदेशमें

विधिनिषेध-उत्सर्गापवाद-प्रतिप्रसवके भेदोपभेद खड़े हो जाते है, वैसे ही तत्त्वोपदेशमें भी सम्भव है. अखण्डाद्वैत तत्त्वमें भी अनेकविध नामरूपोंके लीलात्मक परस्परविरोधी भेद भी उभरते ही हैं. इनमें किसी भी एक प्रकारकी लीलाके आधारपर किसी तरहके सामान्य कर्तव्यका ऊह, न केवल अधार्य एवं अतत्त्व ही हो सकता है परन्तु आत्मघाती भी. उदाहरणतया भगवान्ने माखनचोरीकी लीला की अतः पराये घरसे माखन चुरा कर भोग लगानेको क्या अपने सेवाप्रकारमें धर्म माना जा सकता है? अथवा भगवान्ने गोपिकाओंके साथ रासक्रीड़ा की थी उसे अनुकरणीय कर्तव्य माना जा सकता है? ऐसा माननेपर, महाभारतमें भगवान्ने गुरु-ब्राह्मणवध भी करवा दिया था, उसे भी अनुकरणीय आदर्शतया मान्य रखना पड़ेगा! अन्यथा अनुकरणीय न मानने पर भगवल्लीलामें दोषोंकी भी उद्भावना करनी शास्त्रके वास्तविक अभिप्रायसे अपरिचयका द्योतन ही है. क्योंकि इस तरहकी लीलाओंके द्वारा प्रतिपिपादयिषित तत्त्वोपदेशरूप शास्त्रार्थ, यह भी तो हो सकता है कि आत्माराम आप्तकाम भगवान्, भक्तोंके भाव असामर्थ्य एवं अज्ञान का किसी सीमातक निःस्वार्थ अनुकरण करके भी उन्हें अपनी लीलाओंमें निरुद्ध बना कर उनकी, प्रपञ्चासक्ति निवृत्त कर देते हैं. ऐसी स्थितिमें यहां कर्तव्योपदेश खोजना सहज संभव है कि हमें अपनी प्रपञ्चासक्तिके परिपोषणार्थ ही उचित प्रतीत होता होगा!

(८)जैसे भगवान्की दिव्य सामर्थ्यमें निष्ठा रख कर भगवच्चरित्रमें हम दोषबुद्धि नहीं लाते, वैसे ही दिव्य सामर्थ्यकी निष्ठा निभाते हुवे आचार्यचरण या उत्तमकोटीके अन्य भी भगवदीयोंकी भी असाधारण सामर्थ्यमें हमें निष्ठा रखनी चाहिए. प्रत्येक भगवच्चरित्र कर्तव्योपदेशार्थ ही न हो कर कभी केवल कर्तव्योपदेशार्थ, तो कभी केवल तत्त्वोपदेशार्थ, तो कभी उभयोपदेशार्थ भी हो सकता है. वैसे ही आचार्यचरित्र या अन्य भी उत्तमकोटिके भगवदीयोंके चरित्र भी कभी कर्तव्य कभी तत्त्व या कभी उभय के उपदेशार्थ भी हो सकते हैं.

(९)अतः 'विमर्श'द्वारा प्रदर्शित अविमृष्टविधानकारिताके दोषसे बचना हो तो धैर्ययुक्त विस्तृत विवेचनाकी आवश्यकता है. कोई वार्ता यदि कर्तव्योपदेशार्थ है तो, वह कर्तव्य औत्सर्गिक है आपवादिक है या प्रातिप्रसविक है. इसी तरह तत्त्वोपदेशार्थ है तो वह तत्त्वस्वभाव-तत्त्वस्वरूपके निरूपणार्थ है या तत्त्वसामर्थ्यके निरूपणार्थ, इसका सूक्ष्म अन्तर विचारना पड़ेगा. इसे समझे बिना तो महाप्रभुने दो बार भगवदाज्ञाओंका उल्लंघन किया एतावता सभी आचार्यचरणानुगामिओंको दो बार भगवदाज्ञाओंके उल्लंघनकी छूट क्या दी जा सकती है? आचार्यचरणने निजजनकके श्राद्धकार्यार्थ दूसरेसे घृतयाचना की थी, अतः आधुनिक गोस्वामिओंको भी उनके नि.ली.पितृचरणोंके श्राद्धकार्यार्थ परघृतयाचनामें(वैसे पू.पा.श्रीव्रजरत्नलाल महाराजश्रीने, उल्लिखित नड़ियादकेसकी गवाहीमें, इस वार्ताको भी अप्रमाण ही मानी है! फिरभी) कोई न्यूनातबुद्धि नहीं लानी चाहिये! फिर तो आचार्यचरणने अपने पितृव्यके पास घरमें बिराजमान श्रीबालकृष्णलालके स्वरूपके बजाय श्रीमुकुन्दरायजी ही पधराने पसन्द किये थे : "श्रीवल्लभेन देवालयं गत्वा एका शालिग्रामशिला श्रीभागवतपुस्तकं च याचितं मात्रा हरिस्वरूपं च तदा जनार्दनः प्राह इयं शिला... अयं मुकुन्दः... बालकृष्णः... पुस्तकं च... नीयतां यद् रोचतइति शिलां पुस्तकं मुकुन्दं पुस्तकं च गृहीत्वा चलितः"(श्रीवल्ल.दिग्वि.प्रथमावच्छेदः), अतः उसके आधारपर भी कुछ कर्तव्योपदेशकी उद्भंकना लोग करने लगेंगे! क्योंकि ये स्वरूप सुरतिस्थ स्वस्थ हों या न हों परन्तु "सभी स्वरूपोंमेंके मूलस्वरूपके सूचक नाम 'कृष्ण' नाम केवल श्रीबालकृष्ण प्रभुके नामके साथ आता है. अतः इससे स्पष्ट सूचित होता है कि सर्वस्वरूपोंमें श्रीबालकृष्ण प्रभु सर्वमूलभूत मौलिक स्वरूप है" ('सेव्यसेवकरसास्वाद'पृ.सं.८ का हिन्दी-अनुवाद) में स्वीकृत मूलनामप्रयोगकी युक्ति यहां भी अविस्मरणीय माननी पड़ेगी.

निष्कर्षतया वैसे तो ये सारी बातें भुला भी दें तो भी महाप्रभुके "ईश्वराणां वचएव तथ्यं नतु आचरितं, क्वचिद् आचरितमपि वचनानुगुणं

चेद्, ईश्वराणां बहवो धर्माः यथा ऐश्वर्यं तथा धर्मात्मत्वं तथा दया, तत्र ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यैः यत् करोति तत् 'स्वच्छन्दचरितम्' इति उच्यते. बुद्धिमान् तद् न समाचरेत्. तेहि अन्यथा न वदन्ति अन्यार्थं कथनम् अन्याधिकारेणेति; अतः, तद्विरुद्धं न कथयन्तीति.'' (सुबो.१०।३०।३२) इस वचनके जागरूक रहते हुवे महाप्रभु-प्रभुचरणोंके श्रीकण्ठोक्त विधि-निषेधोंके अन्यथार्थकल्पनाका साहस वस्तुतः एक महान् दुःसाहसका उदाहरण प्रस्तुत करना है, वह भी विमर्शकारसदृश सुपठित व्यक्तिद्वारा किये जानेपर तो ''साक्षराः विपरीताः चेद्...'' लोकोक्तिको ही उजागर करना है.

इन बातोंके विचार करनेपर; तथा, क्योंकि अभी अपनी घोषणाके अनुसार विमर्शके पूर्वार्धके मूल्य ४०रु.के अलावा उत्तरार्धके भी ४०रु. शुल्क वसूल कर लेनेके बावजूद उत्तरार्धका प्रकाशन कब तक हो जायेगा या होगा भी कि नहीं इसकी निश्चिति न होने के कारण भी, कुछ असमंजस परिस्थिति बनी हुई है. क्योंकि पूर्वार्धकी तरह उत्तरार्धमें भी सिद्धान्तवचनोंके बजाय वार्ताओंपर ही अवलम्बित हुवा जायेगा, यह सोच कर, उस उत्तरार्धके प्रकाशित होनेके बाद ही एकहेलया 'वार्ताविमर्शविशोधनिका' का प्रकाशन अधिक सुसंगत होगा. रही बात 'सेवादेवद्रव्यादिविमर्शसारसंग्रहक्रोडपत्र'की तो वह तो अन्तमें 'क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग'में अधिक आयासकी अपेक्षा नहीं रखेगा सो किसी भी वर्ष किसी भी मास किसी भी दिन सम्पन्न हो पायेगा! तथा 'ट्रस्टप्रकरण' भी सिद्धान्तनिर्धारित होनेपर ही निर्धारणीय हो पायेगा यह सोच कर 'विमर्श'के अन्तिम 'भावसंगोपन-प्रकरण'का विशोधन अधिक प्रासंगिक लग रहा है.

यों विचार्यविषयक्रमकी संगतिके निरूपणके बाद विचारक्रमकी संगतिके सन्दर्भमें भी थोड़ा-बहुत खुलासा सिंहावलोकनविधिसे कर लेना उचित होगा.

ग्रन्थारम्भमें यह खुलासा तो हमने दे ही दिया है कि आलोच्य

'भावसंगोपनप्रकरण' 'सिद्धान्तवचनावली'के 'सेवाप्रयोजन', 'सेवोपदेशदीक्षा', 'सेवोपदेष्टा', 'सेवाप्रदर्शन' तथा 'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोंसे सम्बद्ध विषय हैं.

(पूर्ववृत्तका विहंगावलोकन)

इन पांच विषयोंमेंसे पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले-मुंबई)में चि.हरिरायजीने तीनपर पक्षग्रहण किया था. अतः उन गृहीत पक्षोंको 'पु.सि.सं.शि.'पदवी द्वारा अभिनन्दित करनेवाले वास्तविक तथा नामदायी विमर्शकारोंकी उन पक्षोंके साथ नैतिक प्रतिबद्धता तो माननी ही पड़ेगी. उसे 'विमर्श'में कहां छोड़ा या स्वीकारा गया है, उस तथ्यपर एक विहंगावलोकन भी अतएव आवश्यक है ही.

तदनुसार:——

(अ)'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यतया संकलित वचनोंके बारेमें मेरे द्वारा ''सिद्धान्ततः भगवत्सेवाका प्रदर्शन आम जनताके समक्ष हो सकता है या नहीं'' इस संशयके सन्दर्भमें चि.हरिरायजीने ''निरंकुशाः हि कवयश्चेद् महाकवयस्तु महानिरंकुशाः'' नियमको चरितार्थ करते हुवे अपना पक्ष यों प्रस्तुत किया था : ''श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजीकी सेवा जो आचार्यचरणने प्रकट की वह मन्दिरसेवा और दर्शनसेवा... का प्रावधान है... उसी वक्त दर्शन मन्दिर को सिद्धान्तमें स्वीकार लिया गया था'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२).

यह अतीव विस्मयजनक तथ्य है कि प्रातःस्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी फूफाजी जैसे सिद्धान्तनिष्ठ विद्वान् पिताके द्वारा सुपाठित श्रीवल्लभरायजी जैसे विद्वान् पुरुष सर्वप्रथम तो चि.हरिरायजीसदृश महाकविकी कल्पनाओंसे इतने केसे विमोहित हो गये कि 'पुष्टिने शीतल छांयडे'में स्वयंके द्वारा दिये गये समाधानको निरसनीय पक्ष मान बैठे! यह तो सम्भव नहीं लगता कि 'पु.सि.सं.शि.'पदवीके पाठमात्रसे यह प्रतिबद्धता जनमी

हो. क्योंकि उक्त पदवीपाठके बावजूद महाकविके निजकाव्यैकशोभाकर अनेक कल्पनाकंटकोंसे विमर्शकारने अपने उलझे हुवे दामनको 'विमर्श'में एक झटकेसे छुड़ा लिया है!

लिहाजा ''सामान्यतया इतर हिन्दुसम्प्रदायमें 'मन्दिर' देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होता है परन्तु ऐसे देवालयरूप मन्दिर जैसी संस्थाका पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है... पुष्टिमार्गमें सेवा सामूहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी या माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्यप्रदान करनेका व्यक्तिगत धर्म फर्ज और अधिकार होता है. वैसे ही जिस सेवकका जो सेव्यस्वरूप होता है उस सेव्यकी सेवा उस सेवकका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार है. सेवा यह सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं है परन्तु सेवा यह अपने आन्तरिक जीवनके सम्बन्ध रखनेवाली होनेसे अपने जीवनकी अपने निजघरमें अनुष्ठित स्वधर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलियोंकी तरह 'श्रीनाथजीका मन्दिर'शब्द रूढिवशात् प्रचलित हो गया है. वस्तुतः सामूहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसा अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवालय जैसा श्रीनाथजीका मन्दिर नहीं है.'' (पु.शी.छां.पृ.सं.१५७-१५८ का हिन्दी अनुवाद) इस विधानकी संगति अब कैसे बैठानी?

वैसे प्रतीत होता है कि यह पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीने जब श्रीनाथजीके व्यक्तिगत होनेका दावा न्यायालयमें कर रखा था उसके समर्थनमें दिवंगत श्रीयुत आर.के.भट्टकी पुस्तकके आधारपर चोरा गया समाधान है, पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीको प्रसन्न करने कि षष्ठपीठाधीशत्वकी मान्यता कथञ्चित् प्राप्त हो जाय! एतदर्थ ही यह धांधली हो गई लगती है. बादमें कोर्टमें न्यायालयके समक्ष एतत्संबन्धी वचन प्रस्तुत न किये जानेसे कोर्टने पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीके व्यक्तिगत स्वरूप होनेका दावा श्रीनाथजीके बारेमें मान्य नहीं रखा. फलतः ''व्यवहारे भाट्टाः'' नीतिका

परित्याग कर भाट्ट विधानको भुलानेकी आवश्यकता, व्यावसायिक भगवत्सेवाके पारमार्थिक प्रयोजनवशात्, उठ खड़ी हो गई होगी. चि.हरिराय 'महाकवि'के निरंकुशकल्पनाप्रसूत पक्षग्रहणके अभिनन्दनार्थ 'पु.सि.सं.शि.'बिरुदावलीके प्रलेखपर षष्ठपीठाधीशतया गो.ति.म.श्रीके साथ संयुक्तहस्ताक्षर करवा लेनेकी कूटनीतिवश प्राप्त षष्टत्वके निर्वाहार्थ पुनः स्वकृत विधानका भी परिमार्जन अपेक्षित था सो अब 'विमर्श' प्रस्तुत कर दिया गया है! इस बीच एक दुर्घटना और घटित हो गई. अपने सेव्यस्वरूपको चौटा बजार स्थित मन्दिरसे वराछा रोडपर स्थित बंगलामें हिन्दु-मुस्लिम दंगोंके बहानेसे पधरानेकी आवश्यकता थी परन्तु सूरतनगरकी दर्शनार्थी वैष्णव जनताके प्रबल असन्तोष तथा विरोध के कारण पुनः ठाकुरजीको चौटा बजार स्थित हवेलीमें पधराने पड़े! सो हाल ही में प्रकाशित 'विमर्श' समर्थित सार्वजनिक प्रदर्शनोपयोगी मन्दिरोंको अपसिद्धान्त घोषित कर दिया गया है. पुनः स्वयं विमर्शकार श्रीवल्लभरायजीके अग्रज श्रीबालुराजा द्वारा! उसे भी एक बार अवलोकन कर लेना 'विमर्श'के निगूढ़ स्वभावके निर्धारणार्थ उपयोगी हो सकता है :

> ''...मन्दिरके स्थलान्तरणके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कहा कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा ही नहीं है. उसमें तो व्यक्तिगत स्वरूप निजी स्वरूपकी ही बात है और अतएव उसका सेवाप्रकार देवालय प्रकारका नहीं है. मन्दिरका स्थापत्य भी घर जैसा ही होता है. कहीं ध्वजा-शिखर होते नहीं है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करते हैं उसे 'मन्दिर' कहते हैं; ओर वैष्णव सम्प्रदायके मन्दिरोंके स्थान अतएव बदले जा सकते हैं. हम भी यदि यहांकी जगहके बारेमें(परिवारमें)समझोता सफल नहीं हुवा तो दूसरी जगह कर विचार निश्चित करेंगे.''
>
> ('गुजरात-समाचार' अंक दि.२५-५-९३)

भूलना नहीं चाहिये कि ये गो.श्री बालकृष्णजी भी 'विमर्श'के लिये द्वितीय नामदायी हैं. सिलसिलेवार देखें तो ''पुष्टिने शीतल छांयडेमें'' स्वीकृत भावसंगोपनात्मिका निजगृहसेवाका सिद्धान्त पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें चि.हरिरायजीद्वारा गृहीत पक्षको अभिनन्दित करते समय छोड़ दिया गया! जिसकी यथाकथञ्चिद् उपपत्ति 'विमर्श'में दी गई. अभी इस 'विमर्श'को पढ़ कर लोग समझनेका प्रयास कर रहे थे कि गुजरात-समाचारमें पुनः नूतन सिद्धान्त प्रकट हो गये हैं! अब 'गुजरात-समाचार'में प्रकाशित सिद्धान्त यदि पुष्टिमार्गीय हों तो श्रीनाथजीके मन्दिरको पुष्टिमार्गीय मानना कि नहीं? लगता है षष्ठत्वमान्यताप्रदायक पू.पा.गो.ति.महाराजकी जानकारीमें यह वक्तव्य अभी आया नहीं है. अन्यथा षष्ठत्वके निरसनकी धमकी मिलते ही पुनः सार्वजनिक मन्दिरको महाप्रभुप्रभृति आचार्योंकी सदाचार परम्परासे प्रमाणित सिद्ध करना पड़ेगा. वैसे ट्रस्टप्रकरण, जिसकी विशोधनिका अभी लिखी जानी बाकी है, उसमें विमर्शकारने थोड़ी-बहोत लीपापोती करनेकी असफल चेष्टा की है सो भी 'चोरासी वैष्णवन्की वार्ता'में की २४वीं वार्ताके प्रसंग १के प्रामाण्यको मान्य रख कर या अमान्य रख कर यह प्रकट नहीं हो पाता है! ''प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावाः नृते स्वार्थशक्तेः!''

(आ)'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्योंके सन्दर्भमें ''सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या अलौकिक कुछ और भी पुष्टिसिद्धान्तमें हो सकता है या नहीं?'' इस तरह संशयकी दो कोटियां प्रयुक्त करनेपर चि.हरिरायजीने पक्षग्रहण किया था : ''अधिकारीभेदसे सम्भव है'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२)

वैसे न्यूनतम शब्दावलीमें यह प्रश्नोत्तरी सम्पन्न हुई थी. अतः चि.हरिरायजी महाकविके लिये तो आकाशावधि शाखाचंक्रमणका अवकाश यहां उपलब्ध है. अन्यथा 'सेवास्वरूप' तथा 'सेवार्थ आजीविका' शीर्षकान्तर्गृहीत गृहीत पक्षोंके साथ एकवाक्यता करनेपर चि.हरिरायजीके

चित्तमें ''चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च...'' कल्प ही रमा हुवा था. ''सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः''नीतिके अनुसार सेवाद्वारा अर्थोपार्जन जब निषिद्ध सिद्ध होने जा रहा हो तो भक्तिकी जघन्यकोटितया उसे मान्य करवानेका केसरिया चि.हरिरायजीने कर लेना चाहा था! क्योंकि ''तुष्यतु दुर्जनन्यायेन'' चि.महाकविने पक्षग्रहण किया हो, ऐसा तो शक्य ही नहीं क्योंकि मैं तो कोटिद्वयावगाही संशय या विकल्प ही केवल प्रस्तुत कर रहा था पक्षग्रहण तो चि.महाकविका अपना कल्पनाकौशल था. वैसे यदि अब चि.महाकवि ऐसा शाखाचंक्रमण करना चाहें तो भी मैं तो पुनः यही कहना चाहूंगा कि दुर्जनोंको सन्तुष्ट करनेवाले पक्षको गृहीत करनेके बजाय चि.महाकविकी अपनी आस्थाके अनुरूप श्रीमदाचार्यचरणको वे सन्तुष्ट कर पायें, ऐसा पक्ष क्यों नहीं गृहीत किया? क्या दुर्जनैकसन्तोषदायकताका जघन्यस्वभाव सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्ने महाकविकी नियति बना रखी है क्या!

विमर्शकारने यहां खुल कर प्रयोजनके बारेमें भगवत्सेवाका तो नहीं परन्तु भगवत्सेवाके प्रदर्शनका प्रयोजन दिखलाया है. दर्शनार्थिजनताके उद्धारको सेवाप्रदर्शनके प्रयोजनतया मान्य किया है. ऐसी स्थितिमें अधिकारीभेद किस दृष्टिसे समझना तथा सेवात्मिका क्रियाका प्रयोजन सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन तथा उस प्रदर्शनका प्रयोजन दर्शनार्थिजनताका उद्धारतया लेनेपर सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन को मुख्य प्रयोजन मान कर दर्शनार्थिजनतोद्धारको उसका आनुषंगिक प्रयोजन मानना अथवा दर्शनार्थिजनतोद्धारको मुख्य प्रयोजन मान कर सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन को उसका आनुषंगिक प्रयोजन मानना? यों यहां संशयकी कोटियोंको और परिष्कृत करना पड़ेगा.

(इ)'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यरूप वचनोंमें शब्दशः स्वार्थप्रतिष्ठा या परार्थप्रतिष्ठा का तो उल्लेख था नहीं, फिरभी ''वस्तुविचारेण

सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो.'' (त.दी.नि.प्र.२।२२८) यों सेवार्थ भगवत्स्वरूपके चयनकर्ता भक्तकी तरह स्वयं भगवान् भी भक्तका चयन करते हैं प्रपञ्चासक्ति या संसार से उसके उद्धारार्थ. यह चयन तद्भक्तसेव्यात्मना करते हैं यह भी ध्वनित होता है. अतः स्वार्थप्रतिष्ठाका यदि श्रुतिबलसे नहीं तो भी लिंगबलसे तो बोध होता ही है.

चि.हरिरायजीने केवल स्वार्थप्रतिष्ठा माननेपर उसे अर्थोपार्जनका साधन नहीं बनाया जा सकेगा तथा केवल परार्थप्रतिष्ठा स्वीकारनेपर गोस्वामिवर्गको सेवाफलसे वंचित मानना पड़ेगा, ऐसी मानसिक असंगजसतामें निरंकुशकल्पनाकौशलका प्रदर्शन करते हुये पक्षग्रहण कर लिया ''मेरा स्पष्टतम(?!) मत यह है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये जब सेव्यस्वरूप पधराया जाता है तो स्वार्थप्रतिष्ठा होती है (ताकि कोई बनिया पू.पा.गो.महाराजश्रीओंकी प्रतिस्पर्धामें व्यावसायिक मन्दिर चलाने न पावे!) परन्तु पुष्टीमार्गीय गुरु जो सेवा करता है, वह सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ होता है (ताकि हम गोस्वामिओंद्वारा चलाये जाते सार्वजनिक-व्यावसायिक सेवाप्रदर्शनके कारण हमें मिलते आर्थिक लाभको किसी तरहकी आंच न आने पावे!) अर्थात् परार्थ भी है'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.-सं.१५९).

उल्लेखनीय है कि संशयकोटिमें ही मैं यह स्पष्ट कर चुका था कि निजस्वत्ववाले स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये परधन लेना देवलकता है तथा परार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये परिवारेतर जनताको भी धनादिके समर्पणका अधिकार शास्त्रसम्मत है. चि.महाकविने तो आशुकविकी तरह शीघ्र ही अपना निरंकुशकल्पनाकौशल प्रकट करते हुये यही उचित मान लिया कि गोस्वामिओंके स्वत्वकी वकालतके लिये स्वार्थप्रतिष्ठा होने दो; तथा, दर्शनार्थिजनतासे मिलते लाभकी सुरक्षाके लिये पार्थ अर्थात् उभयार्थ प्रतिष्ठा होने दो. इस विषयमें 'पु.सि.सं.शि.' पदविप्रदानद्वारा चि.महाकविको अभिनन्दित करनेवाले

विमर्शकारने मौनसेवनमें ही अपना श्रेय मान लिया है, ऐसा प्रतीत होता है, यद्यपि 'पुष्टिने शीतल छांयडे' तथा 'गुजरात-समाचार' में प्रकाशित वक्तव्य तो चि.महाकविद्वारा गृहीत पक्षसे सर्वथा विपरीत थे और हैं!

वैसे तो पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें प्रकट हुई स्वीकृति और तन्मूलक अर्थापत्तिओंके आधारपर विचारकी कड़िओंको आगे बढ़ानेकेलिये 'संक्षिप्तविवरण'में मैंने 'शाखाचंक्रमणनिरसन' परिच्छेद जोड़ दिया था. परन्तु किंवक्तव्यविमूढतावश चि.महाकविके तो यह हाल हो गये कि कभी कहते हैं ''पक्षग्रहणमें जो बातें कबूल करनेके आरोप लगाये जा रहे हैं वे मनगढन्त हैं! कभी ''तटस्थ-मध्यस्थ यदि कोई हो तो पुनः शास्त्रार्थ करके तीन घंटामें मुझे पराजित कर सकते हैं'' कह कर बलाय टालना चाहते हैं. कभी जनताको मेरे विरुद्ध भड़कानेको मुझे 'श्रीनाथजीका विरोधी' कहते हैं! कभी कहते हैं ''कॅसेट्सके साथ छेड़छाड़ हो गई है'', जबकि छेड़छाड़में कोई अंश मान लो कि काटा भी जा सकता हो, पर उसमें जोड़ा कैसे जा सकता है? वह अनितरसाधारण ''अहोरूप अहोध्वनि'' अन्यत्र कहांसे आ सकती है? जबकि ओडियो-वीडियो कॅसेट्स्मेंसे जिसे चि.महाकवि गृहीत पक्षोंको देखना-सुनना हो वह देख-सुन सकता है. कर्णोपकर्ण ऐसा भी सुना जा रहा है कि चि.महाकवि यह भी कहते हैं कि पक्षग्रहण तो 'तुष्यतु दुर्जन'न्यायेन स्वीकार लिया था''. परन्तु 'तुष्यतां पुष्टिप्रभुमहाप्रभू'न्यायेन कुछ स्वीकारनेका बीजभाव ही मानों चि.महाकविके जीवात्माके भीतर परमात्माने स्थापित ही नहीं किया हो, ऐसा लगता है. इस दयनीय मानसिक दुरवस्थाको देख कर चि.महाकविको तो उपेक्षणीय तथा क्षन्तव्य समझ कर ही अब आगे बढ़ना पड़ेगा! परन्तु विमर्शकार अपने नैतिक उत्तरदायित्वसे छटक नहीं सकते. क्योंकि चि.महाकविकी स्वीकृति यदि अभिनन्दनीय पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हो तो 'विमर्श'की धारणा उससे विपरीत या विरुद्ध नहीं होनी चाहिये थी.

यदि विपरीत या विरुद्ध धारणायें 'विमर्श'में प्रस्तुत करनी थी तो चि.महाकवि को अभिनन्दित करना किसी तरहकी कूटनीति थी या वास्तविक धर्मके स्वरूपका निर्धारण था, यह खुलासा तो कभी न कभी देना ही पड़ेगा.

यह तो सहज सम्भव लगता कि 'संक्षिप्तविवरण' तथा 'विमर्श' का मुद्रणकार्य एक ही समय चलता रहा होगा. अतः 'विमर्श'में 'संक्षिप्तविवरण'के 'शाखाचंक्रमणनिरसन' परिच्छेदकी युक्तिओंका विमर्श हो नहीं पाया. परन्तु वहां प्रस्तुत कई आपत्तियां अभी भी अनुत्तरित हैं, इस तथ्यपर विमर्शकारका ध्यान आकृष्ट करना मेरा कर्तव्य है. स्वयंकी इच्छाके अनुरूप स्वनाम्ना स्वपितामहनाम्ना स्वाग्रजनाम्ना या सकलनाम्ना जैसे भी सुविधाजनक लगे उन आपत्तियोंके उत्तर देनेका नैतिक उत्तरदायित्व विमर्शकारका है ही.

इस 'भावसंगोपनप्रकरण'में आते वार्तासाहित्यके प्रसंगोंके उद्धरणोंद्वारा सिसाधयिषित पक्षका विशोधन तो भविष्यमें 'वार्ताविमर्शविशोधन' प्रकरणमें होगा, जिसका यत्किञ्चित् दिशानिर्देश हम इसी परिच्छेदमें कर ही चुके हैं. अतः अब इस औपक्रमिक स्पष्टीकरणके बाद 'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्योंके आधारपर क्या सेवाप्रयोजनके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपको दृष्टिगत रखनेपर अस्वीय दर्शनार्थी भक्तके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शन सिद्धान्ताभिमत प्रकार है या सिद्धान्तविपरीत इसकी मीमांसाकेलिये अग्रसर हुवा जा सकता है.

'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गत संकलित
विषयवाक्यविचारमूलक
विशोधन

(विषयवाक्य)

(क)न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकं
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः परलोकश्च''(शिक्षापद्यानि).

(क)न तो श्रीकृष्ण कोई लौकिक प्रभु हैं और न, अतएव, वे लौकिक भावोंको मान्य करते हैं. अतएव हमारा भाव उनके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सब कुछ हैं ऐहिक भी और पारलौकिक भी(तत्रैव).

(ख)''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा''
ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः ? इत्यतः आहुः 'लोकार्थी' इति, 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव. अतः क्लिष्टो भवति. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकेऽपि नश्यति, निषिद्धाचरणाद् इति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति. सर्वथा तद्रहितः कश्चित् कुर्यादपीति 'चेद्' इति उक्तम्. अत्र मूलनामोक्तिः भजनकर्तुः अभिप्रायेण अन्यथा तदसम्भावात् (सिद्धान्तमुक्तावलीविवृति : १६).

(ख)''कोई लोकार्थी यदि कृष्णभजन करना चाहे तो उसे सर्वथा क्लेश ही होता है'' यहां शंका होती है कि कोई आजीविकाके लिये श्रीकृष्णभजन करता हो

तो उसकी क्या गति होती है? इस शंकाके समाधानतया 'लोकार्थी' पदप्रयोग किया गया है. 'लोक'पदका अर्थ होता है लौकिक अर्थ अतः लौकिक अर्थकी कामनाको पूर्ण करनेके जो भजन करता है वह तो व्यापारकी तरह अर्थप्राप्ति होनेपर अनर्थरूप ही होता होनेसे ऐसे भजनको 'भक्ति' नहीं माना जा सकता होनेसे ऐसोंका किया-धरा सब क्लेशरूप ही होता है. न केवल ऐसोंको ऐहिक क्लेश होता है परन्तु ऐसोंका तो परलोक भी नष्ट हो जाता है, निषिद्धाचरण होनेके कारण. अतएव 'सर्वथा क्लेश ही होता है' कहा. जिसे स्वल्प भी भजन और भजनीय भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो वह ऐसा कभी नहीं कर पायेगा. जिसे स्वल्पज्ञान भी न हो वही ऐसा कर सकता है. अतः एक सम्भावनाके रूपमें 'यदि' कहा गया है. ऐसे भजनकर्ताका भजनीय स्वरूप श्रीकृष्ण तो हो ही नहीं सकते फिरभी उसे ऐसी भ्रान्ति सताती होती है कि वह श्रीकृष्णभजन कर रहा है. अन्यथा आजीविकार्थ भजनमें भजनीय विग्रह श्रीकृष्ण हो ही नहीं सकते (तत्रैव).

(ग)तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः, न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन, न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् (शिक्षापत्र : - १८।१२-१३).

(ग)अपने माथे बिराजते भगवत्स्वरूपकी सेवा आजीवन अपना धर्म मान कर करनी चाहिये, न तो किसी फलको पानेको, न किसी तरहकी भोगवृत्तिके वश, न प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पानेकी लालसाके वश ही, न श्रीमदाचार्यचरणोक्त रीतिसे भिन्न किसी रीतिके अनुसार ही, न मनःकल्पित प्रकारोंसे और न किसीके प्रति किसीभी तरहके दुर्भाव

रख कर ही(तत्रैव).

(घ)"भगवत्सेवा है सो गोप्य है सो काहूसों जनावे नाहीं. जो सेवा प्रकट करी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे तो वाकों 'पाखंडी' कहिये. सो ताकी सेवामें कुछ पुष्टिमार्गको फल नहीं और पाखण्ड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवे. सो लौकिक आवेशते बहिर्मुख होय सेवामें प्रतिबन्ध पड़े. पाखण्डको मूल लोभ-भय है सो लोभ-भय छूटे तब पाखण्ड न होय. और लोभके लिये जगतमें पाखण्ड करत हैं सो लोभी पाखण्डी होय, ताकों अन्याश्रय होय जाय. लोभके वशते ज्ञान-विवेक जाते रहें लोभी-पाखण्डीके हृदयमें श्रीठाकुरजी कबहूं न बिराजें. तातें भगवद्धर्म-सेवा थोड़ी बने तो बाधक नहीं. सो थोड़े ही शुद्ध भगवद्धर्मते याके सघरे कार्य सिद्ध होय जायें. और बहोत करे और पाखण्ड करे परन्तु पाखण्ड-लोभ लौकिक आसक्तिते भगवद्धर्म न बढ़े. तातें आलौकिक सो सेवा करे जो श्रीठाकुरजीको जानेते कार्य होयगो—जो लोगन्के=लौकिकके जानेतें कछु सिद्धि नहीं है. (चोबीस वचनामृत : २२)

(संशय)

इन और ऐसे अनेक मूलाचार्यवचनोंके विचार करनेपर इतना तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि सेवाका प्रयोजन, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके अनुसार, लौकिक तो हो ही नहीं सकता. अलौकिक प्रयोजन भी स्वयं भगवत्सुख अथवा भगवत्स्वरूपसेवा भगवन्नाम भगवद्गुण अथवा भगवल्लीला में चित्तकी अनन्यप्रवणताके अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता. अतः वित्तोपार्जन पद्प्रतिष्ठाप्राप्त्यर्थ अथवा जनतोद्धारके प्रयोजनवश किया जाता भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन, यदि कण्ठोक्त सेवाप्रयोजनसे भिन्न हो अथवा विरुद्ध हो तो वह सिद्धान्ततः अनुमोदनीय हो सकता है या नहीं यही इन विषयवाक्योंके स्वारसिक अर्थोंके

बारेमें जिज्ञासा या संशय का विषय है.

(पूर्वपक्ष)

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२ पार्ले-मुंबई)में स्वमार्गीय ग्रन्थानुशीलन सिद्धान्तबोध अथवा जिज्ञासुजनोचित सौम्यभावोंसे रहित महाकविने अपने स्वभावानुरूप अनर्गल कल्पनाकौशलवशात् "अधिकारीभेदसे सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या अलौकिक कुछ भी सम्भव है" (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२) ऐसी सगर्जन घोषणा करके पु.सि.सं.शि. पदवीरूप शाखापर चंक्रमण कर दिया था. तदनुसार यहां भी अधिकारभेदवश विभिन्न प्रयोजनोंके वश किया जाता भगवत्स्वरूपसेवाप्रदर्शन भी अनुमोदनीय हो सकता है या नहीं? उसे तो, परन्तु स्वयंके जघन्याधिकारी होनेके निगूढभावसे जन्य चि.महाकविकी अचिकित्स्य विवशताका अनुमान लगा कर, क्षम्य मान लेना ही उचित होगा. वैसे तो 'शाखाचंक्रमणनिरसन'में भी निरसनके प्रकारका थोड़ा-बहुत दिशानिर्देश तो दिया ही जा चुका था. अतः उन सभी चंक्रमणसम्भावनावाली शाखाओंका भी कर्तन तो हो ही चुका है. फलतः प्रस्तुत परिच्छेद विमर्शकार द्वारा उड्डंकित या उड्डंकनसम्भावना के विशोधनार्थ ही अब केवल अवशिष्ट रह जाता है.

(उत्तरपक्ष)

सेवाप्रयोजनका विचार करते समय मुख्य एवं गौण प्रयोजनोंके भेद भी विचारणीय बनते ही हैं. इन्हें मुख्यफल और अवान्तर फल के रूपमें भी निहारा जा सकता है. जिस साधनका जो मुख्य फल नियत होता है, उस फलको पानेकी कामनाके प्रमुख कामना होनेपर, यदि हम उस साधनको अपनाते हैं, तो फल और साधन दोनोंमें पूर्ण सामञ्जस्य प्रकट होता है. अवान्तर फलको प्राप्त करनेकी कामनाके मुख्य होने पर भी साधन-फल सम्बन्धी हमारे विवेकमें एवं व्यापारमें थोड़ी-बहुत असमञ्जसता तो झलकती ही है.

जिस साधनके साथ, परन्तु, जिस फलका नियत विरोधाभास ही हो उसी फलकी कामनाके प्रबल होनेपर उसी साधनको अपनाना विवेक एवं व्यवहार की पूर्ण असमञ्जसताका उदाहरण माना जा सकता है. अतः ऐसी असमञ्जसताको "अव्यापारेषु व्यापारं कर्तुम् इच्छति" वचनका विषय मानना चाहिये. कभी तो ऐसा भी होता है कि जो साधन जिस फलका नियत विघातक माना जाता हो, ऐसे साधनको भी कभी अपनानेकी भी विवशता अनिच्छा अज्ञान मोह परद्वेषार्थ असूयावश या आत्मप्रवंचनार्थ लोकमें प्रकट हो जाती है. ऐसी सारी विवशताओंका परिणामस्वरूप फलविघात ही होता है!

तदनुसार सिद्धान्तमुक्तावलीमें जैसी साधनरूपा कृष्णसेवाका मुख्यफल चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें स्वीकारा गया, उसके सिद्ध होनेपर ही मानसी सेवा सिद्ध होती मानी जा सकती है. अहन्ता-ममताजन्य संसारदुःखकी निवृत्ति एवं ब्रह्मानुभूति रूपी, जो अवान्तरफल कृष्णसेवाके स्वीकारे गये हैं, वहीं यह भी स्पष्टीकरण दे दिया गया है कि ये अवान्तरफल सेवाकर्ता साधककी अभिलाषाके स्वरूपके विचारवश निरूपित नहीं हुवे हैं प्रत्युत मुख्यफलके स्वरूपान्तःपाती गुणधर्म होनेसे अवान्तरफलतया निरूपित हुवे हैं.

एतदर्थ ही साधनरूपा कृष्णसेवाके अनुष्ठानोचित व्यापारका स्वरूप 'तनुवित्तजा'रूप समस्तपदद्वारा प्रकट किया गया है.

अब कोई संसारदुःखकी निवृत्ति या ब्रह्मबोध की प्राप्तिके लिये तनुवित्तजा सेवाका अनुष्ठान करता हो तो उसके ऐसे व्यापारमें स्वरूपतो-अन्यथात्व न होनेपर भी फलतो-अन्यथात्व प्रकट होता ही है, मुख्यफलान्तःपाती होनेके कारण इनका स्वरूप मुख्यफलविरोधी न होता हो तो भी. अर्थात् जब अंग ही अंगीकी प्राप्तिमें बाधक बनने लगे तो फलसाधनभावमें कुछ असमञ्जसता तो स्वीकारनी ही

पड़ती है.

उदाहरणार्थ मुख्यफलरूप प्राणधारणके सम्पादनार्थ साधनरूप व्यापार अन्नभक्षण है, इसके अवान्तरफल पुष्टि तुष्टि और क्षुधानिवृत्ति प्रकटतया सभीको अनुभूत होते हैं. बहुधा इन तीनों या तीनोंमेंसे किसी एककी अमर्यादलालसा प्राणनिर्वाहके बजाय प्राणघातक ही सिद्ध होती है. एतावता सिद्ध होता है कि अवान्तरफलोंके बारेमें भी मुख्यफलके जैसी कामनाके प्रबल होनेपर मुख्यफलके अंगभूत अवान्तरफल मुख्यफलमें बाधक हो सकते हैं.

इसी तरह सांसारिक दुःखकी निवृत्तिके लिये सांसारिक साधनोंके अवलम्बनमें किसी तरहकी असमञ्जसता न होनेपर भी सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिकी कामनावश कृष्णसेवाका अनुष्ठान ''लौकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा''. वचनमें निरूपित व्यापार एवं प्रयोजनकी असमञ्जसता है. यही गति कृष्णसेवाके द्वितीय अवान्तरफलरूप ब्रह्मबोधकी कामनाके प्रबल होनेपर भी सोच ली जा सकती है. क्योंकि तदर्थ ज्ञानमार्गीय उपासना आदिकी ही मुख्यसाधनता स्वीकारनी उचित होगी.

इस सबके विपरीत लौकिक सुख धन पद प्रतिष्ठा या कीर्ति आदिकी कामनाके वश जब कोई कृष्णसेवाके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है तब तो चित्तकी कृष्णैकप्रवणता या मानससेवा रूपी वास्तविक फलका विघात तो ध्रुव निश्चित है और अतएव इसे फलविरुद्ध व्यापारमें प्रवृत्त होनेकी मूढ़ता भी माननी पड़ती है.

यह विरोध उभयथा सम्भव है :

(१)साधनस्वरूपको विकृत बना कर, यथा, एकवर्तृका तनुवित्तजाके बजाय भिन्नवर्तृका तनुजा और वित्तजा के अनुष्ठानद्वारा साधनके स्वरूपविघातक व्यापारद्वारा, अर्थात्

स्वगृहके बजाय सार्वजनिक देवालयमें कृष्णसेवाके साधनस्वरूपके विघातद्वारा, स्वकीय भक्तोंके सहयोग तथा संनिधानके बजाय अस्वकीय तथा अभक्तों के संनिधान अर्थात् जनसाधारणके सहयोग तथा संनिधान द्वारा सम्पन्न करने पर.

(२)वास्तविक फलके अनभिलषित होनेपर वह पुनः दो तरहसे सम्भव होता है : (क)वास्तविक फलकी अनुत्पत्ति तथा (ख)वास्तविक फलका विघातन.

तनुवित्तजा, स्वगृहाधिष्ठित स्वरूपकी सेवा, अपने परिवारजनोंके उसमें विनियोगके निर्वाहपूर्वक यथोपदिष्टतया करनेपर भी सेवाकर्ताके अन्तःकरणमें वास्तविक फलकी अभिलाषा ही न रहनेपर वह फल उत्पन्न नहीं होगा. यह वास्तविक फलकी महत्ताके प्रति प्रमाद या अज्ञान के कारण भी सम्भव है. इसी तरह तद्विरोधी फलके प्रति मोहजन्य आकर्षणके कारण भी जैसे लौकिक सुख धन पद प्रतिष्ठा प्रतिस्पर्धा या कीर्ति आदिके मोहवश यथोपदिष्टतया भी कृष्णसेवाका अनुष्ठान इन विरोधी फलोंके मोहवश कृष्णसेवाका स्वरूपोपघाती न होनेपर भी फलोपघाती बन सकता है. अतएव शिक्षाश्लोकी सिद्धान्तमुक्तावली विवृत्ति तथा शिक्षापत्रके वचन स्थालीपुलाकन्यायेन विषयवाक्यतया मैंने प्रस्तुत किये थे. अन्यथा तो अनेकानेक वचन इस अभिप्रायको सिद्ध करनेवाले सुबोधिन्यादिसे उद्धृत किये ही जा सकते हैं. उदाहरणतया विशोथनिका(द्वितीय)के मुखपृष्ठपर तथा पृष्ठपृष्ठपर जो वचन उद्धृत हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है.

विमर्शकारने इस विषयमें अपनी एक विचित्र व्याख्यानरीति पेटेन्ट बना रखी है कि जितने भी निषेधवाक्य हैं उनकी सदाचारसे विरुद्धता दिखला कर सिद्धान्तविपरीत सदाचारकी वचनाविरोधिताकी उपपत्ति देने-खोजनेके बजाय कण्ठोक्त निषेधोंका अभिप्राय लक्षणावृत्तिसे खोज

लेना.

यह तो ऐसी बाललीला है कि मानों मद्यपानका शास्त्रमें निषेध उपलब्ध होता हो तो भी श्रीबल्लाभके मद्यपानको सदाचार मान कर मद्यबुद्ध्या मद्यपानको दोषरूप दिखलाना परन्तु गंगाजलपानबुद्ध्या या औषधबुद्ध्या मद्यपानको निर्दोष सिद्ध कर देना. अथवा उन-उन ऋषियोंके अप्सरारमणके वृत्तान्तको उद्धृत कर सदाचारकी शपथ दे या ख कर आधुनिक परवधूविहारको धर्म्य ठहराना सो भी यह कह कर कि परवधूबुद्ध्या परवधूविहार दोषरूप हो सकता है पर अप्सराबुद्ध्या अथवा स्ववधूबुद्ध्या विहार करनेपर आर्ष सदाचारानुसरण ही केवल होता है!

ऐसे बच्चकने कुविमर्शके कुछ उदाहरण देख कर ही इस विषयके विचारार्थ अग्रसर होना उपयुक्त होगा. देखिये :

> (१)"रतिर्देवादिविषया भावः" इस वाक्यके अनुसार 'भाव' शब्दका अर्थ भगवद्विषयिणी रति है. व्यवहारमें देखा जाता है कि पतिदर्शनार्थ किसीके आनेपर पत्नी नहीं रोकती. अन्य लोगोंके समक्ष भी पत्नी मर्यादित रूपमें अपने आराध्य पतिकी सेवा करती है. पतिके विषयमें पत्नीका शृंगारस्सका जो स्थायी भाव है, उसे पत्नी लोगोंके समक्ष प्रकट नहीं करती. 'रति'का अर्थ है: "यह पति किंवा इनका दर्शन आदि सुखका साधन है इस प्रकार का पत्नीका संस्कार."
>
> (विम.पृ.सं.१९७-१९८)

[क]

वैसे तो विमर्शकारने यहां एक बहोत बड़ा झांसा देनेकी कोशिश की है. क्योंकि यह तो ठीक है कि सामान्यतया कोई भी पत्नी पतिको मिलने-देखने आनेवालोंपर रोक-टोक नहीं लगाती होती परन्तु

दर्शनार्थिओंमें कोई दर्शनार्थिनी पतिकी आँखोंमें डोरे डालने आना चाहती हो, उसपर भी वह पत्नी यदि बुरा न मानती हो और उसे रोके-टोके भी नहीं; और, तब एक दिन वह मनचली दर्शनार्थिनी कोर्टमें दावा भी कर दे : वह पुरुष केवल पतिप्रदर्शिका पत्नीका ही पति नहीं परन्तु दर्शनार्थिनीका भी पति है और पतिप्रदर्शिका तो केवल उसकी परिचारिका है. तब भी वह पतिप्रदर्शिका यदि बुरा न मानती हो तो या तो वह स्वपतिविरक्ता होगी अथवा व्यभिचारी पतिने उस पत्नीको सरे-आम रस्तापे उतर कर विरोध दरसानेके बावजूद उसे मार-पीट कर भीगिबिल्ली बना दिया होना चाहिये, घरमें एक निरीह पालतु जानवरकी तरह पाले रखनेको! अन्यथा अपने पतिको फंसानेके दर्शन करने आनेवालीको रोकनेके दाम्पत्यकरनहमें तो सती पत्नी भी अपने मुकामसे बाहर निकलकर मार्गपर उतर जाती है. मारे खाते-खाते, परन्तु, किसी बिचारीका पत्नी होनेका अभिमान ही खण्डित हो गया हो तो कथा दूसरी है!

अतः "भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चेहिकश्च सः परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा सेव्यः सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः" वचनके आधारपर क्योंकि ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ पुष्टिप्रभु ही सिद्ध करते हैं तब दर्शनार्थी जनतासे रक्षण-पोषणकी अपेक्षा रख कर भजन करना कारिकामें प्रयुक्त "सएव नः अखिलं विधास्यति" भावनाके विपरीत लगता है. अतः वृत्त्यर्थ, रक्षार्थ, पोषणार्थ, प्रतिष्ठार्थ, जनोद्धारार्थ अथवा परधनके स्वकीयभगवत्स्वरूपकी सेवामें विनियोगार्थ भगवत्सेवाका अनुष्ठान सिद्धान्तानुमोदनीय नहीं हो सकता है.

[ख]

आज इस व्यावसायिक दर्शन करानेके चक्करमें पुष्टिमार्गीय हम गोस्वामिओंके अधिकतर ठाकुरजीओंको वैष्णव दर्शनार्थी ट्रस्टी बन कर पचा गये हैं. कई स्थलोंपर तो ऐसे प्रदर्शनार्थी पू.पा.महाराजोंका निष्कासन

भी ट्रस्टिओंने कर दिया है. स्वयं सुरतघरके ताबेकी कल्लोलकी हवेलीमें, सुनते हैं कि ट्रस्टिओंने सिर उठाना चाहा है, स्वयं मोटी हवेलीमें आराध्य श्रीबालकृष्णलालजीको मन्दिर रिपेर करनेके लिये वराछा रोड पधरानेकी योजना स्थगित करनी पड़ी कि कहीं मुकदमेबाजी न हो जाये! बावजूद इसके दर्शनार्थिओंकी उद्धारकी कामनामें कितनी सदाशयरूपा जनोद्धिधीर्षा है? और कितनी धनोपार्जनकी विवशता? यह कह पाना कठिन लगता है. यह स्थिति इतनी विरल भी नहीं कि विमर्शकारके ध्यानसे बाहर हो. हर सूरतमें यह एक व्यावहारिक विवशताकी कथा है सैद्धान्तिक पक्ष नहीं. वैसे इतना सुदृढ़ है कि सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन करना हो तो सेवास्थलको न केवल प्राचीन तन्त्रागमोंके नियमोंके अनुरूप अपितु आधुनिक उच्चतम न्यायालयके निर्णयोंके आधारपर भी देवालय स्वीकारना पड़ेगा. इतना ही नहीं अपितु उस देवालयस्थ भगवद्विग्रहपरसे अपना स्वत्व भी निवृत्त मानना पड़ेगा. फिरभी ऐसे भगवद्विग्रहके बारेमें स्वरूपासक्तिका दावा तो बचकानी मनोवृत्ति लगती है. अन्यथा स्वीयभक्तजनेतर अन्य जनसाधारणको दर्शन कराये ही नहीं जा सकते. विशाल खुले द्वारोंवाली बेरोकटोक आवागमनकी सुविधा दर्शनार्थिओंको प्रदान करनेवाली हवेलीके संचालक क्यों दर्शनार्थी जनताको महाप्रभु-प्रभुचरण भगवत्स्वरूप सेवार्थ पधरा कर अपने-अपने घरोंमें सेवाका उपदेश नहीं देते. ऐसे करनेपर खोनेको केवल देवोत्तर द्रव्यका आर्थिक लाभ होगा और पानेको स्वयं निजाराध्य देवाधिदेव भगवत्स्वरूप होगा! खेदके साथ, परन्तु, कहना पड़ता है कि देवलकोंकी रुचि प्रायः देवमें नहीं किन्तु देवद्रव्यमें ही बद्धमूल होती है.

विमर्शकार कहते हैं—

"अन्य लोगोंके समक्ष भी पत्नी मर्यादित रूपमें अपने आराध्य पतिकी सेवा करती है. पतिके विषयमें पत्नीका जो शृंगाररसका स्थायिभाव रति है उसे पत्नी लोगोंके

समक्ष प्रकट नहीं करती." (तत्रैव)

वैसे तो आधुनिकायें उद्यानोंमें, सागरतटोंपर या क्लबोंमें अपने पति या प्रेमी के प्रति रहे शृंगारात्मक भाव भी प्रकट करती ही हैं, जैसे हम आधुनिक गोस्वामिगण शृंगाररसात्मिका जलक्रीड़ाकी भावनासे कराये जाते ज्येष्ठाभिषेकके दर्शन मंगलामें आम जनताको कराते है. दानलीलाके शृंगारिक भावपूर्ण दर्शन शृंगार राजभोग आदि दर्शनोंमें कराते हैं. सांझीके सन्ध्या-आरतीमें और शारदी पूर्णिमामें रासलीलाकी भी भावनावाले दर्शन भी शयनमें कराते ही हैं. वसन्तके खेलमें तो चालीस दिनोंतक शृंगारभावात्मिका रतिसे ठाकुरजीको चोवा चन्दन गुलाल अबीरसे खिलानेके भी दर्शन कराये ही जाते हैं.

यदि कहा जाये कि इन शृंगारलीलाभावोंके दर्शन या प्रदर्शन में गोस्वामी स्वयंका प्रभुके प्रति रहा मधुरभाव प्रकट नहीं करते परन्तु व्रजभक्तोंके भगवान्के प्रति कैसे मधुरभाव थे उन्हींका केवल प्रदर्शन करते हैं! तब तो यह भी स्वीकारना ही पड़ेगा कि या तो इन सेवाओंका अनुष्ठान हम गोस्वामिवर्ग सर्वथा भावविहीन केवल जनप्रदर्शनार्थ ही करते हैं; अन्यथा, उन्हीं क्रियाओंके अनुरूप निज हृदयमें भी भाव होनेपर ऐसी शृंगाररसात्मिका सेवा तो कमसे कम जनताके समक्ष हमें बन्द करनी चाहिये थी, धनलालसाको संयत करके. परम्पराकी दुहाई दे कर, यदि ऐसा करनेमें विमर्शकारको दोष न लगता हो तो, आहार्य सख्यभक्तिको प्रकट किये बिना ठाकुरजीको शृंगार धराते समय भी खुले टेारमें शृंगार धरानेमें आपत्ति होनी तो नहीं चाहिये थी. फिर शृंगार धरानेकी सेवाके प्रदर्शनसे क्यों कतराना चाहते हैं? क्यों अब यहां "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि न युज्यते?" जैसे अन्नकूट-छप्पनभोगके प्रदर्शन आम जनताके समक्ष आयोजित होते हैं, वैसे ही मंगलभोग गोपीवल्लभभोग राजभोग उत्थापन शयनभोग आदिका भी प्रदर्शन क्यों किया नहीं जाता? यदि कहा

जाये कि सेवारीतिकी घर-घरमें विद्यमान पुस्तकोंमें उसका प्रावधान नहीं है, अतः टेराके भीतर ही वह सेवा अनुष्ठेय होती है. तो ऐसा क्यों नहीं सोच लिया जाता कि यह निषेध भी लाभपूजार्थ प्रदर्शनकी प्रमोभावनावश प्रदर्शनका निषेध होगा परन्तु हवेलिओंमें आनेवाली साधारण जनताके उद्धारार्थ प्रदर्शन करनेमें यह निषेध बाधक नहीं होना चाहिये. "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते."

कोष्ठक (ख)के सामने दिये वचनमें कारिका तो निःसन्देह महाप्रभुका उपदेश है परन्तु उसके विवरणतया दिये गये प्रभुचरणवचन सभी मातृकाओंमें उपलब्ध न होनेसे सिद्धान्तचर्चासभामें चि.महाकविने उसका प्रामाण्य सन्दिग्ध माना था (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.९७ तथा २१८-२२१). इस बारेमें विमर्शकारका मौन हमें मौनव्रत धारण करनेको बाधित नहीं कर सकता; क्योंकि, शब्दावलीका प्रामाण्य सन्देहास्पदतया स्वीकार कर भी चलें परन्तु इन शब्दावलियोंमें अभिप्रेत उपदेश महाप्रभुकी मूलकारिका तथा प्रभुचरणके (आगे इस प्रकरणमें निष्कर्षतया उद्धृत किये जानेवाले) भक्तिहंसके वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर और कठोर शब्दोंमें इसी उपदेशको प्रकट कर रहे हैं.

[ग]

विमर्शकार कहते हैं—

"जिस प्रकार पतिके साथ रहस्यमें हुयी बातचित आदिको लोगोंके सामने प्रकट करनेपर पत्नीका पतिके प्रति भाव बढ़ता नहीं अपितु घटता है. उसी प्रकार भगवान्के साथ होनेवाली रहस्यवार्ता आदिको लोगोंके सामने प्रकट करनेपर भक्तका भगवान्के प्रति विद्यमान भाव बढ़ता नहीं घटता है. अतः भगवान्की सानुभावताका प्रकाशन अनधिकारिओंके सामने नहीं करना चाहिये.(विम.पृ.सं.१९८)

यहां यह प्रश्न उठता है कि जैसे पतिके साथ रहस्यमें हुई बातचीत पत्नीको प्रकट नहीं करनी चाहिये वैसे सेवाकर्ताको अपने प्रभुके सानुभावकी रहस्यवार्ता क्यों प्रकट नहीं करनी चाहिये? उत्तरस्वरूपेण भावकी अवृद्धिंगामिताकी सम्भावना अथवा भावके नाशकी भीति ही हेतुतया उपस्थित होती हैं. तो व्रजभक्तोंके साथ भगवान्की जो रहस्यलीला है उन्हें प्रकट करनेवाली सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन कैसे अनुमोदनीय हो पायेगा? यदि कहा जाये कि व्रजभक्तोंके अनुकार्य भावोंकी भावनानुकारिणी सेवा करनेवाले हम आधुनिक गोस्वामिओंकी सानुभावताका प्रदर्शन न होनेसे अनुमोदनीय हो सकता है. तो इसके कारणको भी खुल कर बताना पड़ेगा :

(१)क्या अनुकार्य व्रजभक्तोंके सदृश हम आधुनिक गोस्वामिओंके हृदयमें रहे आहार्यभाव या भावना भावत्सेवाके समय विद्यमान नहीं रहती इस कारण, अर्थात् हम लोगोंकी सेवा केवल क्रियात्मिका ही होती है?

अथवा

(२)हमारी कृष्णसेवामें भावांश व्रजभक्तोंका होनेपर भी प्रदर्शनद्वारा प्रकट होनेवाला अंश तो केवल हमारेद्वारा अनुष्ठित कृष्णसेवात्मिका क्रियाका ही होता होनेसे?

(१)यदि लेशतः भी हम गोस्वामिओंमें निज भगवत्सेवामें व्रजभक्तोंके रहस्यभावोंका आहार्यभावन (अर्थात् भावना) नहीं रहती तो ऐसे भावभावनाके उद्बोधक पदोंका गान सेवाके समय हमें हमारी भगवत्सेवामें बन्द करवाना चाहिये. अन्यथा रहस्यवार्ताका प्रकाशन प्रकट हो ही रहा है. केवल क्रियात्मिका सेवाके इतने समारम्भ पूर्वक अनुष्ठानका भक्तिमार्गमें औचित्य भी क्या हो सकता है? यदि जनतोद्धार? तो क्या वह भक्तिभावके उद्बोधनद्वारा या केवल क्रियाप्रदर्शनद्वारा अथवा निजगृहमें भगवत्सेवार्थ असमर्थ जनोंके द्रव्यके भगवत्सेवामें विनियोगार्थ? इसका स्पष्टीकरण

भी देना पड़ेगा. क्योंकि केवल क्रियाप्रदर्शन तो भक्तिभावोद्बोधक होनेके बजाय कम्प्रेरक ही होगा. भक्तिभावोद्बोधनार्थ भक्तिभावप्रदर्शन करनेपर तो स्वयं विमर्शगीकृत भक्तिभावप्रणाश ही होगा. परद्रव्यके भगवत्सेवामें विनियोगार्थ तो प्रदर्शन करनेके बजाय जनताको कथाकल्पके समाश्रयणका उपदेश क्यों नहीं दिया जाता? महाप्रभुकी सुस्पष्ट आज्ञा है ही "सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम" (भक्तिव.९) कथाकी दक्षिणा वैष्णव श्रोताओंसे ऐंठ कर भी भागवदर्थ नहीं तो भगवत्कथार्थ द्रव्यविनियोग तो शक्य है ही. यदि कहा जाये कि महाप्रभुकी "वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि" (त.दी.नि.२।२५४) निषेधके रहते वह शक्य नहीं. तो इस निषेधकी प्रयोजनकी मीमांसा करनी पड़ेगी और वह महाप्रभुके उपदेशद्वारा शान्त करनी हो तो "इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत्स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति" (त.दी.नि.प्र.३।१।२७) वचनानुसार फिर "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते" न्याय यहां विमर्शकार क्यों लागू नहीं करना नहीं चाहते? नामात्मक रूप और साक्षात् स्वरूप के बीच ऐसा क्या तारतम्य है कि एकका आजीविकार्थ उपयोग वर्ज्य ही होता है अपरका आजीविकार्थ न केवल अनुपयोग प्रत्युत विमर्शकारके शब्दोंमें कहना हो तो "अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको ऐश्वर्यकेलिये पूजन करनेमें दोष नहीं... रक्षा एवं पोषण के बिना देवकी पूजा न करें"—"याजनके अन्तर्गत ही वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा एवं भृत्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा के आ जानेसे वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं है" (विम.पू.सं.४५—३९). क्या नामात्मक भगवद्रूपकी तुलनामें साक्षात् भगवत्स्वरूपकी भगवत्ता विमर्शकारको न्यून लगती है! भगवत्कथाका भी केवल वेतनग्रहणार्थ उपयोग ही निषिद्ध मान कर दक्षिणाका निषेध नहीं मानना चाहिये था! यदि वहां दक्षिणा अग्राह्य हो तो यहां दक्षिणा कैसे ग्राह्य मान ली गयी है? यदि सबसे अपने घरोंमें भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न होनेका बहाना ही बनाना हो तो कमसे कम जिनसे निर्वाह शक्य हो, उन्हें तो स्वयं

उनके घरोंमें बिराजते सेव्यस्वरूपकी सेवाके लिये प्रेरित करना चाहिये, उन्हें अपने घरोंमें भटकता बनाये रखनेके बजाय.

एतावता सिद्ध होता है कि हम गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा व्रजभक्तोंके अनुकार्य रहस्यभावोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी भगवत्सेवाके प्रदर्शनकी अनुमोदनीयता भक्तिमार्गीय प्रयोजनवश तो शक्य नहीं.

(२)द्वितीय हमारी भगवत्सेवामें क्रियांश हमारा और भावांश व्रजभक्तोंका स्वीकारनेपर सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि हमारे आराध्यका स्वरूप न केवल भावात्मक है अपितु हमारी सेवासामग्री द्रव्य तथा क्रिया सभीमेंसे पुष्टिप्रभु भावोंका ही अंगीकार करते हैं. अतएव श्रीप्रभुचरणके सेवाश्लोकोंमें आता है "भावात्मकृतसामग्रां भोगेच्छां प्रकटी कुरु"—"...उद्दीप्तो भावभोजमाचर"—"बुद्ध्यव भावैकसंशुद्धम्" (प्रभुचरणकृत सेवाश्लो.५७,५८.६२). अन्यथा भावरहित केवल द्रव्य या क्रिया का अंगीकार तो मन्त्रबलसे पूजामार्गीय देवताओंके बारेमें भी मान्य ही होनेसे पुष्टिप्रभुके वैशिष्ट्यका ही प्रत्याख्यान हो जायेगा. मूलमें यही हेतु था कि गृहिणोपसंहाराधिकरणमें तथा साधनदीपिकामें आधुनिक गृहस्थ भक्तोंके भावोंके संगोपन अर्थात् अस्वीय भक्तोंके समक्ष अप्रकाशनका नियम समझाया गया था. यह निजाचार्यप्रभृति पूर्वपुरुषोंकी कितनी बड़ी मनोवैज्ञानिक सूझबूझ थी! कारण एक ही था कि उनकी कृष्णसेवा भावदाराधना ही थी. वह न तो जमाराधना थी और न धनाराधना. हम गोस्वामिओंके दुर्दैवविपाकवश वह हमारी कृष्णसेवा अब सकलभक्तजनविगाह्य केवल धनजनाराधनाका नमताप्रदव बन गयी है, जिसकी वक्रालत 'विमर्श' द्वारा की जानी कायिकी नमताके अलावा वाचिकी भी नम्रता नहीं तो और क्या हो सकती है?

वैसे विमर्शकारने 'देवलकप्रकरण'में अपना उत्तरपक्ष कोष्ठक (ग)

के सामने दिये श्रीहरिराय महाप्रभुके वचनके अभिप्रायनिरूपणके साथ प्रारम्भ किया परन्तु शीघ्र ही वार्तिके आधार खोजने पलायन कर अन्तमें ''भगवत्सेवाके मिषसे अपने लाभ एवं अपनी पूजा केलिये किये जानेवाले प्रयत्नमें उपधर्मत्व देवलकत्व आदिका सम्पादकत्व है'' (विम.पृ.सं.३४) स्वीकार कर भी पृष्ठसंख्या ३८-३९पर वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवाको पुनः निर्दोष मान लिया है. अवधेय है कि वृत्ति यदि स्वार्थ भोगोपयिक न हो तो वह 'वृत्ति' ही नहीं कहलायेगी सो श्रीहरिरायजीका ''न भोगार्थं'' निषेध वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवाके निषिद्धतामें ही पर्यवसित होता होनेसे 'विमर्श'का शिक्षापत्रद्रोह ही यहां प्रकट हो रहा है. इसमें लेशमात्र सन्देह रह नहीं जाता है. यदि वृत्तिको भगवद्विनियोगार्थ मान कर भी चलें तो भगवदुद्देश्यक देवस्व ही सिद्ध होनेसे पुनः देवलकत्वापत्ति दुष्परिहरा सिद्ध होगी. देवोद्देश्यक गोस्वामिस्वामिक परद्रव्यांगीकार तो कोई निर्लज्ज पुरुष ही घोषित कर सकता है, भक्तपुरुष नहीं.

इस सारे विषयके स्पष्टीकरणार्थ पुनः नड़ियादके केसमें पू.पा.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीके कुछ वक्तव्य उद्धृत करना चाहेंगे. इनके अवलोकन करनेसे सारी अस्पष्टता दूर हो कर सभी मुद्दे करतलामलकवत् स्पष्ट दिखलायी देने लगेंगे. यथा :

> ''गोस्वामी बालकोंके घरमें बिराजते स्वरूपोंको वैष्णव अर्पण कर नहीं सकते हैं. परन्तु गुरुओंको भेंट दे सकते हैं. अतः देनेवालेका मालिकाना हक दी भेंटपर रहता है या नहीं का प्रश्न उपस्थित नहीं होता... भेंट और अर्पण दोनों अलग बाते हैं भेंटमें देनेवालेका मालिकाना हक निवृत्त हो जाता है और लेनेवालेका पैदा होता है और समर्पणमें समर्पण करनेवालेका मालिकाना हक कायम रहता है. अतः भेंट और समर्पण एक ही बात नहीं...(पृष्ठसं.८).

व की ल : वैष्णवोंद्वारा जो भेंट धरी जाती है वह श्रीठाकुरजीकी

सेवाकेलिये नहीं परन्तु गुरुके लाभार्थ दी जाती हैं, ऐसा आपका कहना है?

महाराजश्री : नहीं.

व की ल : वैष्णवोंके द्वारा श्रीठाकुरजीको ऊपर कहे गये अनुसार दी जाती भेंट गुरु, श्रीठाकुरजीकी सेवार्थ स्वीकारते हैं क्या यह ठीक है?

महाराजश्री : श्रीठाकुरजीकेलिये भेंट धरी ही नहीं जाती तो गुरु वैसी भेंट भेंट स्वीकारते हैं या नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठता. परन्तु स्वयंके आत्मकल्याणकेलिये वैष्णव भेंट धरते हैं.

व की ल : वे किसे भेंट धरते हैं?

महाराजश्री : गुरुको.(पृ.सं.१८)

.....

व की ल : यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा एवं नेगभोग केलिये और श्रीठाकुरजीकी सेवाके निर्वाहकेलिये भेंट आदि धर कर वित्तजा सेवा करते हों तो या मन्दिरमें तनुजा सेवा करते हों तो क्या वह मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होता ऐसे आपका कहना है?

महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णवोंद्वारा तनुजा, वित्तजा सेवा स्वतन्त्र करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है, और वह करते हों तो वह मन्दिर साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता.

व की ल : सुरतके श्रीबालकृष्णजीके मन्दिरमें श्रीठाकुरजी श्रीबालकृष्णजीकी सेवाकेलिये वैष्णवोंके द्वारा स्थावर-जंगम सम्पत्ति भेंट धरी जाती हैं या नहीं?

महाराजश्री : यह मेरी निजी हवेली है और निजी स्वरूप है और यहां जो कुछ भेंट आता है वह मेरी भेंट होती हैं.

व की ल : भेंट तो वैष्णव धरते हैं और श्रीठाकुरजीको

धरते हैं.
महाराजश्री : वैष्णव धरते हैं यह सच्ची बात है परन्तु भेंट तो मेरी ही कही जायेगी.
व की ल : भेंट तो श्रीठाकुरजीको धरते हैं.
महाराजश्री : नहीं.(पृ.सं.२१)
.....
व की ल : आपको यह रसीद दिखायी जा रही है वह आपकेद्वारा दी गयी है कि नहीं?
महाराजश्री : हां.
व की ल : इस रसीदके आधारपर तो आप स्वीकारेंगे कि श्रीठाकुरजीको भेंट यहां धरी जाती है?
महाराजश्री : नहीं.
व की ल : इसमें ठाकुरजीकी भेंट छपा हुवा है.
महाराजश्री : यह तो मैंने अपनी निजी समझकेलिये छापा है.
व की ल : आपकी निजी समझ यानि कि ऐसी रकम श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये आपको वापरनी है यही न?
महाराजश्री : नहीं.
व की ल : अर्थात् ऐसी भेंटको भी आप श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये वापरनेको बंधे हुवे नहीं हैं?
महाराजश्री : नहीं.(पृ.सं.२२)
.....
व की ल : श्रीठाकुरजीकेलिये वैष्णवोंकेद्वारा दी जाती भेंट गोस्वामी महाराजोंद्वारा अनेक बार स्वीकारी जाती है.
महाराजश्री : मैं कई बार कह चुका हूं कि श्रीठाकुरजीकेलिये कोई भी वैष्णव भेंट धर ही नहीं सकता तो स्वीकारनेकी बात कहां हो सकती है.
व की ल : वैष्णवोंको गोस्वामी महाराजोंको श्रीठाकुरजीकी

सेवाकेलिये कुछ भी देना ही नहीं चाहिये क्या?
महाराजश्री : भेंट धरनेकी पद्धति नहीं है.
व की ल : भेंट स्वीकारनेकी पद्धति है क्या?
महाराजश्री : नहीं.(पृ.सं.२५)
.....
व की ल : वैष्णवोंके घर पधरामणीके समय श्रीठाकुरजीकी भेंट अंतर्पट रख कर ली जाती है और उसपर मालिकी आपने महाराजोंकी स्वीकारी तो एक ही समय इस तरह दो-दो भेंट लेनेमें वैष्णवोंसे दोहरी भेंट लेनेके आशयसे क्या वह ली जाती है? या अंतर्पटवाली भेंट श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये ली जाती है?
महाराजश्री : श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये नहीं परन्तु श्रीठाकुरजी-केलिये ली जाती है.(पृ.सं.३२)

यह गवाही पू.पा.महाराजश्रीने दिनांक १६।१२।१९४६ के दिनके साड़े बारह बजे पूरी की थी, बी.बी.देसाई (कमिशनर्स् कैरा स्पेशियल सूट नं.२५४३) के समक्ष. 'विमर्श'के आमुखलेखनका काल २८।४।१९९२ दिनांकित हुवा है. इन छियालीस वर्षोंमें पू.पा.महाराजश्रीके विशेष स्वमार्गीय ग्रन्थाध्ययनवशात् यह विचारोंमें परिवर्तन आया है कि वार्धक्यवशात् दृष्टिलोप हो जानेके कारण पू.पा.महाराजश्रीके हस्ताक्षर उन्हें अनवगत प्रलेखपर ले लिये गये हैं? आखिर उनके विचारोंमें इतना अन्तर कैसे आ गया और क्यों आया? यह अब विमर्शकारको समझाना पड़ेगा. क्योंकि इस गवाहीमें पू.पा.महाराजश्रीने स्वीकारा है कि पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें भगवत्सेवार्थ न तो धन देनेकी पद्धति है और न धन लेनेकी (यह कथा दूसरी है कि तब भी स्वयं गवाही लेने आये वकीलसे श्रीठाकुरजीके भेंट स्वरूप सेवा स्वीकारी गयी थी और उसकी रसीद भी दी गयी थी!). साथ ही साथ यह भी स्वीकारा गया था कि इस तरह यदि परद्रव्य कहीं लिया-दिया जाता हो तो उसे पुष्टिसम्प्रदायानुसारी

कृत्य नहीं माना जा सकता. 'विमर्श'में, परन्तु, अब यह कहा जा रहा है कि

> '' 'जहां धन मिले अपना निर्वाह हो' इस उद्देश्यसे मनोरथ आदिका सम्पादन नहीं किया गया हो वहांपर मनोरथ आदिके लिये प्राप्त द्रव्यका भगवत्सेवामें विनियोग होनेपर प्रसादग्रहण करनेमें अर्चोपजीवकत्वका दोष आ नहीं सकता.''
>
> (पृ.सं.१३-१४).

अजीब दास्तां है ये कहां शुरु कहां खतम ये मंज़िलें कौन सी न वो समझ सके न हम! कल तो कोई वारांगना भी कहने लग जायेगी कि ''जो अविवाहित या विधुर पुरुष होते हैं उनकी दारुण कामपीड़ाके त्रासको निवृत्त करनेकी अंशतः भी परोपकारकी भावना जिस हृदयमें न हो ऐसी स्त्रीके द्वारा किये जाते देहके व्यापारद्वारा अर्थोपार्जनको अनीति माना जा सकता है परन्तु अंशतः भी परोपकारका भाव हृदयमें होनेपर कामपीड़ितोंद्वारा, वेतनत्वेन नहीं प्रत्युत उपायनत्वेन प्रदत्त द्रव्यपर स्वोपभोगार्थ स्वत्व स्थापित करना अनीति नहीं मानी जा सकती!'' तो ऐसे परोपकारके कृतज्ञताज्ञापनरूप उपायन और कायव्यापारके अनाचारद्वारा अर्जित द्रव्यमें विमर्शकार कैसे विभाजकरेखा खींच पायेंगे यह जिज्ञास्य है? ऐसा नहीं कि इसके मूलमें सामाजिक समस्यासे तत्तद् देशकी सरकार वाकिफ न हों. अन्यथा वारांगनाओंको कानूनन अपनी कायाके व्यापार करनेका अनुज्ञापत्र(लायसंस्) देनेकी परिपाटी क्यों होती? फिरभी यह तो एक तथ्य है अन्न वस्त्र रत्न भूमि-भवन आदिके व्यापार करनेवालोंकी समाजमें जैसी प्रतिष्ठा होती है ऐसी अपनी कायाके व्यापार करनेवाली स्त्रीकी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं होती. अतएव कुछ स्त्रियां सरकारी अनुज्ञापत्रके साथ प्रकट सार्वजनिक कायाव्यापार करनेके बजाय निजी गृहोंमें अपना स्वत्व रखते हुवे ऐसा व्यापार भी करती हैं समाजमें अपनी प्रतिष्ठा भी निभाना चाहती हैं. शास्त्रोंमें

भी अतएव निजगेहमें भक्तिभावपूर्वक अर्चनादि सुविधा जिन्हें नहीं उनकेलिये परार्थ देवालय और उनमें अर्चकोंको अर्चनाकी दक्षिणा स्वीकारने और देनेकी अनुज्ञा दी ही है. धार्मिक जगत्में भी धर्मोपदेशक गुरु आचार्योंके जैसी इन अर्चकोंकी धार्मिक प्रतिष्ठा नहीं दिखलावी देती है. हम गुसांई महाराजोंने भी अतएव निजी घरोंमें अपने आराध्यको परार्थ प्रतिष्ठापित सार्वजनिक देवालयस्थ भगवद्विग्रहकी तरह पधरानेके बजाय अपने स्वत्वके डिंडिमघोषके साथ अपनी निजी आराधनाको आजीविकाके रूपमें निभानेका जो छलप्रपंच किया है उसकी ही वकालत 'विमर्श' करना चाहता है.

अतः इसवी सन् १९५० में बरोड़ासे प्रकाशित परशुरामकल्पसूत्रके वचनको विमर्शकार—

> ''यस्तु भक्त्या प्रयत्नेन स्वयं सम्पाद्य चाखिलम्।
> साधनं चार्चयेद् विद्वान् स समग्रफलं लभेत्॥
> योऽर्चयेद् विधिवद् भक्त्या परानीतैश्च साधनैः।
> पूजाफलार्धमेवास्य न समग्रफलं लभेत्॥''

इन वचनोंको इसी पृष्ठपर उद्धृत कर उसका समाधान यों प्रस्तुत करते हैं कि ''शिष्योंका उस द्रव्यमें स्वत्व होता नहीं इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गुरुघरमें ऐसे द्रव्यको पृथक् रखनेकी व्यवस्था नहीं रही, न है... अतएव गुरु उस द्रव्यको अपनी इच्छाके अनुसार विनियोग करते हैं'' (विम.पृ.सं.१३). इस बारेमें परन्तु अनेक विकराल प्रश्न खड़े हो जाते हैं.

सर्वप्रथम तो उल्लिखित श्लोकोंमें परानीत साधनोंसे अर्धफल मिलता है ऐसा क्यों कहा जा रहा है? अर्चनसाधनोंको लानेवाले परपुरुषका अर्चनमें यदि आधा हिस्सा न हो तो विमर्शनीतिके अनुसार उन परानीत साधनोंको उपानयनतया स्वीकार कर कोई भी अर्चक उन परानीत साधनोंमें, विमर्शोक्तदिशया, अपना पूर्ण स्वत्व स्थापित कर

पूर्ण फलका भागी क्यों नहीं बन सकता! इसके अलावा यहां 'विधिवद्' पद और 'भक्त्या' पद अतीव लक्ष्यमें रखने लायक हैं. अर्थात् ऐसे परानीत गौण साधनोंसे भी यथाकथंचित् अर्चनाको निभानेकी भक्तिकी अनुज्ञा शास्त्रवचनसिद्ध होनेपर भी, है विहित होनेके कारण ही. अतएव तदनुसार ही अर्चकको अर्धफल मिलता है, सो भी वह भक्तिभावपूर्वक किया गया पूजन हो तब ही. अर्थात् उससे अपनी आजीविकाका निर्वाह न करता तब ही. अन्यथा तो देवलकत्व ही आता है. यह हम विशोधनिकाके द्वितीय परिच्छेदमें प्रतिपादित कर ही चुके हैं.

पुष्टिभक्तिके अन्तर्गत तो प्रभुचरणकृत निषेध तथा उसके व्याख्याताओंद्वारा कृत व्याख्याओं यथा —

> १.''वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.''
>
> २.''नच यागो यजमानस्यैव वित्तदातुः फलति इति शङ्क्यं, तत्र ऋत्विग्वरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वाद्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्.''
>
> ३.'' 'उक्तसेवा'=मानसी सेवा. 'इतरे'=तनुवित्तजे. 'एका' इति वित्तजा इति अर्थः. 'एतादृशेन'=वित्तग्रहीत्रा पुरुषेण. 'अपरा'=तनुजा. 'तत्साधिके'=फलरूपसेवासाधिके. तथाच एककर्तृकेएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः.''
>
> ४.''तनुश्च वित्तञ्च तनुवित्ते ताभ्यां जाता=कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च तत्सिद्धौ 'ते'=संसारनिवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्. 'वस्तुस्वभावाद्' इति मानसीपूर्वरूपवस्तुस्वभावात्. मानसीसेवासिद्धये तनुवित्तजा.''

(१.सिद्धा.मुक्ता.विवृ.२. २.विवृ.प्रका.३.विवृ.टिप्प.४.टिप्प.विवृ.).

द्वारा निराकृत होनेसे ऐसी सेवा अवैध ही मानी जायेगी. इस बारेमें सारे खुलासे विशोधनिकाके प्रथम परिच्छेदमें किये जा चुके हैं.

दूसरे प्रतिपक्षके वकीलको श्रीठाकुरजीकी भेंटसेवाकी रसीद क्यों दी गयी? क्या तथाप्रचारित षष्ठपीठमें पीठाधीशोंको जितनी भी भेंट आती है उसे वे किस कार्यमें विनियोग करेंगे इसकी रसीद दी जाती है? यदि नहीं तो केवल श्रीठाकुरजीकी रसीद देनेका हेतु क्या था? अतः ऐसे द्रव्यको पृथक रखनेकी व्यवस्था थी या नहीं, अथवा सम्प्रति है या नहीं, अथवा भविष्यमें रखी जायेगी या नहीं, ऐसी लचर बातोंको प्रमाण कैसे माना जा सकता है! वैसे स्वयं मैंने एक बार जिज्ञासार्थ किसी वैष्णवद्वारा सुरतके समाधानीसे पुछवाया था कि श्रीठाकुरजीकी भेंटकी रसीद दो तो समाधानीने उस वैष्णवको कहा कि ''ऐसा करनेसे सरकारी लफड़ा होता है अतः बिना रसीदके भेंट जमा करानी हो तो करा जाओ'' इसकी रेकॉर्डेड् केसेट् भी उसने मुझे ला कर दी है! इससे अधिक ''मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् व्यवहारे पुनरन्यथा'' का उदाहरण और क्या हो सकता है? ये सब तो खैर, विमर्शकारकी अपनी आजीविकासम्बन्धी विवशता हो सकती हैं परन्तु इसे सिद्धान्तमें प्रमाणतया कैसे स्वीकारा जा सकता है?

वैसे इन सारी बातोंका विस्तृत विशोधन हम अपने अपनी द्वितीय विशोधनिकामें कर ही चुके हैं सो विस्तार अब यहां आवश्यक नहीं. परन्तु नाशिकमें उसे उपहारतया देने गये सज्जनको विमर्शकारने कहा था कि 'विशोधनिका-अशुद्धिप्रदर्शन' हम भी लिख कर प्रकाशित करवा देंगे परन्तु चातककी तरह उसकी प्रतीक्षा करनेके बावजूद अभी तक वह मुझे मिला नहीं है. ''कब देखो मेरी ओर? हम चितवत तुम चितवत नाहि मेरे करम कठोर!''

[घ]

इसके बाद क्रमानुरोधात् प्राप्त होता है स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत

श्रीगोकुलनाथजीके चोबीस वचनामृतमें जो कहा गया है उसकी संगतिका विचार कि वह विमर्शके साथ कैसे शक्य है? ''भगवत्सेवा है सो गोप्य है. सो काहूसों जनावे नाहीं'' कह कर ''जो सेवा प्रकट करी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे तो वाकों 'पाखंडी' कहिये. सो ताकी सेवामें कुछ पुष्टिमार्गको फल नहीं और पाखण्ड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवे सो लौकिक आवेशते बहिर्मुख होय. सेवामें प्रतिबन्ध पड़े. पाखण्डको मूल लोभ-भय है सो लोभ-भय छूटे तब पाखण्ड न होय. और लोभके लौकिकके लिये जगतमें पाखण्ड करत हैं, सो लोभी पाखण्डी होय. ताको अन्याश्रय होय जाय. लोभके वशते ज्ञान-विवेक जाते रहें. लोभी-पाखण्डीके हृदयमें श्रीठाकुरजी कबहुं न बिराजे. तातें भगवद्धर्म-सेवा थोड़ी बने तो बाधक नहीं, सो थोड़े ही शुद्ध धर्मते याके सघरे कार्य सिद्ध होय जायें. और बहोत करे और पाखण्ड करे परन्तु पाखण्ड-लोभ (अर्था. पीठाधीशताकी प्राप्ति, भूति-प्रतिष्ठार्थ छप्पनभोग आदिके यत्न-तत्र आयोजन गो.श्या.म.) लौकिक आसक्तिते भगवद्धर्म न बढ़े''. जिस सदाचारकी इतनी दुहाई विमर्शकार देते हैं, उस सदाचारके इतिहासमें कभी न मनाये गये ऐसे श्रीयदुनाथजीके उत्सवोंका आयोजन भूतिप्रतिष्ठार्थ नहीं तो और क्या माना जा सकता है? षष्ठपीठाधीशतया घोषित होनेको केवल नाथद्वारामें छप्पनभोग आयोजित किया गया था (जिसके बांटे गये पर्चे प्रमाण हैं. गो.श्या.म.) अतः भूति-प्रतिष्ठाके बढ़ावेके लिये भगवत्सेवाको प्रचार नहीं करना चाहिये (वैसे 'वैष्णववार्णी' में पेम्फलेट भेजे गये थे.गो.श्या.म.) ''अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये भगवद्दर्शन कराना उचित नहीं परन्तु लोगोंका उद्धार करनेके लिये दर्शन कराना उचित है''(विम.पृ.सं.१९९-२०१)

वैसे हकीकत तो यह है कि इन अक्षरोंको लिख रहा हूं उससे ठीक दो दिन पूर्व जामनगरके एक वैष्णवभाई मुझे कह रहे थे ''महाराजश्रीनी पासे अढलक धन होवा छतांय, हूं मुंबई आवतो हतो तेथी पहेला दर्शन करवा गयो. त्यारे महाराजश्रीए आज्ञा करी - *'...भाई! अधिकमास आवी रह्यो छे ख्यालमां तों छे न?'* हूं तो मारुं द्रव्य

प्रभुनी सेवामां विनियोग थाय ते मारुं सौभाग्य मानुं पण आटली अढलक सम्पत्ति होवा छतांय महाराजश्रीने अमारा जेवा जीवो पासे मांगवुं पड़े ऐनुं कारण समजातुं नथी'' इससे सिद्ध होता है कि कीर्ति भी यदि मिलती होती तो अलौकिक न सही लौकिक लाभ कुछ न कुछ स्वीकारा जा सकता था. परन्तु लौकिक शोखमोजके लिये धन धन धन और धनके अलावा कोई भी कामना हम गोस्वामिओंके हृदयमें शेष बची हो ऐसा पुष्टिमार्गके अनुगामिओंको कमसे कम लगता नहीं है.

क्योंकि जनताके उद्धारके उदात्त आशयसे भगवत्प्रदर्शन किया जाता होता तो धनलालसा छोड़ कर निजधनसे सारे अधिकमासके मनोरथ करके दर्शन खोले जा सकते थे!

विमर्शकार ''येन केन प्रकारेण'' कल्पका समाश्रयण करके कहते हैं ''अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको ऐश्वर्यके लिये पूजन करनेमें दोष नहीं है. वे वैष्णव वेतनके लिये देवकी पूजा न करे परन्तु रक्षा और पोषण के बिना देवकी पूजा न करें'' (विम.पृ.सं.४५).

वैसे तो धनार्थ भगवत्सेवा गर्हिततम दुष्कृत्य है फिरभी जनता उसे भी क्षमा कर देती, यदि याचनापूर्वक न की जाती होती तो परन्तु स्वमुख समाधानी पेम्फ्लेट अखबारोंमें विज्ञापन आदि द्वारा 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थपर प्रवचनका आयोजन करके सिद्धान्तरहस्य जिज्ञासाके सात्त्विक भावभरे भोले श्रवणार्थिओंसे अन्तमें अधिकमासमें निजाराध्य भगवत्स्वरूपके मनोरथोंको सम्पन्न करने द्रव्ययाचना कर ली जाती है. किन्तु गर्ह्यम् अतः परम्!

[ङ]

विमर्शकार(पृष्ठ : २०१)ने जो ''भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणकारण-

म्'' के आदर्शके अनुसार दैन्य रखते हुए जनताके उद्धारार्थ भगवत्प्रदर्शनकी रीति बताई है तो वहां यह प्रश्न उठता है कि इसी तरहका दैन्य रख कर वैष्णव जनता भी व्यावसायिक प्रदर्शनवाले मन्दिर व्यक्तिगतरूपेण या सार्वजनिक न्यासकी गतिविधिके रूपमें चलाये तो वहां नित्यनियमसे दर्शन रक्षण-पोषण करने क्यों गोस्वामिगण जाते नहीं?. क्योंकि केवल हम गोस्वामिओंके दैन्यके पाषण्डसे यदि वैष्णव जनताका उद्धार हो सकता हो तो हमारी अनुगामी जनताके व्यावसायिक प्रतिनिधिओंके भी दैन्यके पाषण्डसे हम गोस्वामिओंका उद्धार क्यों नहीं हो पाता है? क्यों ऐसे मन्दिरोंमें हम दर्शन-भेंट-सामग्री-मनोरथोंके लिये दौड़ादौड़ नहीं करते? यदि कहा जाये कि गोस्वामिओंके पास तो उनके अपने ठाकुरजीकी सेवा रहती है तो जिन वैष्णवोंके पास उनके अपने ठाकुरजी बिराजते हों उनको तो यह रहस्य कमसे कम समझा देना चाहिये. क्यों नहीं समझाया जाता? यदि गोस्वामिओंद्वारा किये जाते व्यावसायिक भगवत्सेवाके प्रदर्शनसे ही जनताके उद्धारका कोई सिद्धान्त हो तो अहंकार ही हमारा उजागर होता है, दैन्य नहीं.

इससे सिद्ध होता है :

''चित्तेन (पदप्रतिष्ठालालसा + वित्तलालसा) दुष्टः वचसापि (स्वमुखगतेन समाधानिमुखगतेन पेप्लेठ्यगतेनापि) दुष्टः कायेन (भगवत्सेवेतर व्यावसायिक सार्वजनिक यज्ञयागादि भागवतसप्ताह व्रजयात्रा आदिना)दुष्टः क्रिययापि (अस्वतु-अस्ववित्त-जन्यथापि) दुष्टः ज्ञानेन (विमर्शसदृश लेखन प्रकटनसामर्थ्येन) दुष्टः (खैर जाने दो...) कतिधा विचार्यः!'' हम गोस्वामिओंका भक्तिमार्गसे अधःपात तो भयंकर ही हुआ है.

यह सहज सम्भव है कि मेरे इस लेखनांशको अनेकानेक सौम्य पाठक निर्वैर सैद्धान्तिक आलोचनाके रूपमें स्वीकारनेके बजाय रागद्वेषप्रयुक्त व्यक्तिगत आलोचनाके रूपमें मेरे हृदयके वैयक्तिक रागद्वेष असूया

मात्सर्य आदिके दुर्गुणोंका प्रमाण मानना चाहेंगे. ऐसे मूल्यांकनसे मैं अवश्य ही सहमत भी हो जाता परन्तु विमर्शकारकी विचारशैलीका प्रतिबिम्ब प्रकट करनेको मैं यह कहना चाहूंगा कि विमर्शकारकी व्यक्तिबुद्ध्या आलोचना माननेपर यह व्यक्तिनिन्दाकी अक्षम्य दोषदृष्टि हो सकती है परन्तु अपसिद्धान्तके केवल एक क्षुद्र उदाहरणकी दृष्टिसे देखनेपर इसे व्यक्तिनिन्दा नहीं मानी जा सकती!

इस तरह मैं यदि प्रतियुक्ति दूं तो क्या स्वयं विमर्शकार उसे मान्य रखने उद्यत होंगे? ''यश्चोभयोः समो दोषः परिहारश्च ययोः समः''.

विमर्शकार एक ओर कहते हैं कि भगवत्सेवाका प्रदर्शन जनताके उद्धारार्थ अनुमोदनीय है दूसरी ओर कहते हैं कि लाभपूजार्थ भगवत्सेवाप्रदर्शन अनुचित होता है. और तीसरी ओर यह भी स्वीकार लेते हैं कि भगवत्कृपया भगवत्सेवाप्रदर्शनसे लाभपूजा मिलती हो तो वह दोषरूप नहीं. यह तो बहुत भारी झांसेबाजी हो गयी! क्योंकि चोथी ओर विमर्शकार वृत्त्यर्थ तथा भूत्यर्थ भगवत्पूजनकी वकालत भी करना ही चाहते हैं. इससे अधिक वदतोव्याघातका नग्नताण्डव और क्या संभव होगा?

इस सन्दर्भमें अधिक तो क्या भक्तिमार्गाञ्जमार्तण्ड सुबोधिनीकारके कुछ वचन ही हृदयके इर्दगिर्द घिरे दुराशयके तिमिरको निरस्त कर भक्तिरसपूरित कमलके रूपमें हृदयको खिला सकते हैं :

वे वचन यों हैं:

(१)तस्य प्रसादएव दुर्लभः, प्रसन्ने न किञ्चिद् अदुर्लभम्.
यथा स्वस्य भोगे न कापि न्यूनता तथा तस्यापि.

(२)भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा. हेतुः फलानुसन्धानम्,

तद्रहिता अहैतुकी... या भक्तिः इति... नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम्.

(३)लोकनिष्ठताः भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा.

(४)साधवोहि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति नतु प्रत्युपकारम् अपेक्षन्ते.

(५)धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीयः इति सिद्धान्तः.

(६)दुष्टैव श्रीः अन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा, कृष्णमेव ततो वाञ्छेद् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित्.

[सुबो.(३)१३५०, २९१२. सुबो.(१०)८२६, २९२२, ७३३३, ८५९]

स्पष्ट है आजके हम पुष्टिमार्गाचार्यवंशजोंको भगवत्प्रसादपर अविश्वास हो गया है. हमारे भीतर भगवान् विष्णुके बजाय भगवत्पत्नी श्रीकी लालसा इतनी प्रबल है कि लक्ष्मीपतिके बजाय लक्ष्मीवाहन अधिक प्यारे लगते हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि भगवत्प्रसाद प्राप्त होनेपर कुछ दुर्लभ नहीं परन्तु हमें तो प्रसादकर्ता प्रभुके साक्षात् स्वरूप हस्तगत हो जानेपर भी उनके सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनद्वारा जनताके उद्धारकी तथाकथित उदात्त भावनाके साथ वृत्त्यर्थ-भूत्यर्थ भगवदाराधन करना न केवल अन्तर्मनमें सुहाता है परन्तु प्रकटवाणी द्वारा उसकी वकालतमें लज्जाका अनुभव भी हमें नहीं होता. क्योंकि हमने भक्तिको आज अपनी आजीविकाके रूपमें अपना लिया है सो हमारी भक्ति अहैतुकी भक्ति ही नहीं रह गई है. अतएव हमारे सेव्यप्रभुकी सेवा हमारी भगवन्निष्ठा न हो कर जनताके उद्धारद्वारा अर्थोपार्जनकी लौकिक निष्ठा है. अतएव सामान्य साधुजन जहां, महाप्रभुके अनुसार, प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं रखता, वहां अहैतुकी भक्तिके उपदेष्टा आचार्यके वंशज होनेके बावजूद हम भगवत्सेवाप्रदर्शनद्वारा हमारी आजीविका वृत्ति तथा समृद्धि की अदान्त लालसाका संवरण नहीं कर पाते हैं. किम् आश्चर्यम् अतः परम्! निष्कर्षतया हमारे मूलपुरूष मूलाचार्य महाप्रभु जिसे 'दुष्टा

श्री' कहते हैं वही आज रावणके जैसे आसुरी भावोंसे ग्रस्त हो जानेसे हमें अधिक प्रिय लग रही है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है.

[च]

विमर्शकारनें या तो एक निरनुयोज्यानुयोग किया है या सम्भावित पूर्वपक्षकी भीतिके वश एक लचर शंका-समाधान ये प्रस्तुत किये हैं :

> "पूर्वोदाहृत श्रीगोकुलनाथजीके 'भगत्सेवा है सो काहूसों जनावे नहीं' विधानका पूर्वपक्षियोंने तात्पर्यार्थ जिस स्थानमें भगवत्सेवा करनेपर कोई जान न सके ऐसे गुप्त स्थानमें भगवत्सेवा करनी चाहिये."

इसके उत्तरपक्षतया विमर्शकारने प्रश्न भी उठाया है :

> "तब श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी के समय ऐसा स्थल क्यों नहीं चुना गया जिससे भगवत्सेवा पूर्णरूपसे गुप्त ही रह जाय. तब लोग श्रीमहाप्रभुजी आदिकी आज्ञा प्राप्त होनेपर दर्शनार्थ कैसे आते थे?"
>
> (विम.पू.सं.२०२)

वैसे इस विषयमें ऐतिहासिक तथ्य यह तो है ही कि भगवत्सेवार्थ महाप्रभुके द्वारा काशी/प्रयागके बजाय अड़ैलको निवासस्थलके रूपमें चुनना तथा प्रभुचरणद्वारा व्रजमें वृन्दावनादि जैसे अतिप्रसिद्ध स्थलोंके बजाय अल्पप्रसिद्ध गोकुलको निवासार्थ चुनना, हम आधुनिक उनके वंशजोंकी मनोवृत्तिसे सर्वथा विपरीत ही था. क्योंकि जैसा कि भगवद्गीतामें भक्तके निवासस्थलके बारेमें निर्देशन मिलता है "मयि चानन्ययोगेन भक्तिर् अव्यभिचारिणी विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर् जनसंसदि" (भग.गीता.-१३।१०) तथा नारदभक्तिसूत्रगत "...कः तरति? यः सङ्गं त्यजति

यो महानुभावं सेवते निर्म्ममो भवति. यो विविक्तस्थानं सेवते..." (नार.भ.सू.४६-४७) तदनुसार ये पितापुत्र तो भक्तिमार्गप्रवर्तक आचार्य होनेसे पूर्ण निष्ठाके साथ भक्तिको अपना करके ही भक्त्याचारका उपदेश देते थे. जबकि हम आधुनिक गोस्वामी भक्तिमार्गोपदेशक होनेके बजाय सेवाभक्तिप्रदर्शक बनना अधिक पसन्द करते हैं. अतएव विविक्तदेश हमें भगवत्सेवार्थ सुहाते नहीं हैं. प्रायः पुष्टिमार्गीय हवेली गामके बजारवाले भीड़भाड़भरे मुहल्लेमें होती है ताकि बनियोंको दुकानदारी और दर्शन का लाभ एकहेलया मिलता रहे!

वैसे पुष्टिमार्गीय सैद्धान्तिक आवश्यकता किसी गुप्त स्थलमें सेवा करनेके बजाय अपने भावात्मक भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा को गुप्त रखनेकी है. यह विषयवाक्योंके शुद्ध हृदयसे अवलोकन करनेपर सुस्पष्ट ही है.

आचार्यचरण तथा प्रभुचरण के दर्शनार्थ जो अनुयायी अड़ैल या गोकुल आते थे, उन्हें अपने आराध्य विग्रहकी सेवाराधनाके प्रदर्शनार्थ समाधानी या पेम्फ्लेट के प्राचीनरूप 'पत्रावलम्बन' द्वारा आमन्त्रित नहीं किया जाता था. स्वगृहागत स्वीय भक्तोंको अपने सेव्यप्रभुके दर्शनकी अनुज्ञा, जैसे आज भी अनेकानेक वैष्णव भगवदीय जो स्वगृहमें भगवत्सेवा निभाते हैं, देते ही हैं. यह किन्तु वे अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाके प्रदर्शनार्थ समाचारपत्रोंमें विज्ञापन दे कर या पेम्फ्लेट छपवा कर या समाधानी भेज कर परिचित-अपरिचित सभीको आमन्त्रित नहीं करते. उनका परिचित भगवदीय कोई घरमें आये तो दर्शन भी करा देते हैं.

क्या कारण कि आम पुष्टिमार्गीय भगवदीय अपनी स्वगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी सेवाके प्रदर्शनार्थ दर्शनार्थिओंके उद्धारकी भावनाका बहाना नहीं बनाते? प्रश्नके उत्तरतया केवल एक ही तथ्य उजागर होता

है कि उनकी भगवत्सेवाको वे आजीविकोपार्जनके रूपमें नहीं निभाते हैं, विशुद्ध भगवत्सुखार्थ भक्तिके रूपमें ही निभाते हैं. अतएव उनके ठाकुरजीकी सेवामें मनोरथ उनके भक्तिभावपूर्ण होते हैं, जबकि हम वल्लभवंशजोंके अपने सेव्यस्वरूपके मनोरथ धनलालसाके नंगे भोंड़े प्रदर्शन केवल रह गये हैं.

विमर्शकार प्रश्नाडम्बर कर रहे हैं कि **"महाप्रभुजीकी आज्ञासे दर्शनार्थ कैसे आते थे?"** परन्तु यह प्रश्न खड़ा नहीं होता. क्योंकि उन्हें दर्शनार्थ आमन्त्रित नहीं किया जाता था आये हुवोंको दर्शनकी अनुमति दी जाती थी. पितापुत्रोंमें इतनी भक्तिमार्गीय सामर्थ्य थी कि सेवाके दर्शन करते ही बहुधा उनके सेवकोंको सानुभाव सिद्ध हो जाता था. जबकि हम इतने असमर्थ हैं कि अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाका प्रदर्शन न करें तो अधिकांश जनता हमारे मूंह देखना भी नहीं चाहेगी. अतएव द्रव्यसंग्रहकी अदम्य लालसाके विवश हमें कंठी भी कोई पहने या न पहने ऐसे, पुष्टिमार्गमें निष्ठाशील वैष्णवके बजाय प्रायः निष्ठाविहीन धनिकोंको टूस्टी बनाना पड़ता है! हमारे स्वरूपका गुणगान एक पदमें इस तरह मिलता है :

परिचयसंचयचतुराचारः ॥
धनिकवणिग्जनकुसुममधुपगतिदर्शितविविधविकारः ॥१॥
शासनजनरञ्जनविगलितमतिचाटुवचनशृंगारः ॥
कलैकदेशविबुधतामण्डितखण्डितगौरवहारः ॥२॥

अतएव हमारी तो यह दुर्गति हुई है कि वैदिक कर्मानुष्ठानमें भी वर्णाश्रमबाह्य मुसल्मान कलेक्टर यदि उपस्थित न हो पाये तो हमें कर्मवैगुण्य लगता है!

अतः प्राचीन आचार्योंकी प्रयोजनबुद्धि और हमारी प्रयोजनबुद्धि

में आकाशपातालका अन्तर है. प्राचीन आचार्य जिस प्रयोजनवश स्वगृहमें सेवा करते थे उसमें स्वीयभक्तोंके अलावा अन्य किसीको दर्शन करानेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता था. अतः जिन वार्ताओंके उद्धरणोंका तामझाम विमर्शकारने खड़ा किया है, वह तो एक फूंक मारनेपर उड़ जानेवाला हलका तामझाम है. क्योंकि जिनको महाप्रभु प्रभुचरणने स्वगृहस्थित सेव्यप्रभुके दर्शन कराये थे, वे सभी उनकी पैनी दिव्यदृष्टिसे बराबर जाने-पहचाने स्वीय भक्त होंगे ही. उनके तो चरणोदकप्रदान या दीक्षाप्रदान में भी इतनी सामर्थ्य थी कि लेते ही उनके सेवकोंमें मानसी सेवा भी सिद्ध हो जाती थी. हमारी इसके विपरीत ऐसी शोचनीय दुरवस्था है कि हमें यह स्वीकारनेमें भी लज्जा नहीं आती कि वैष्णवोंसे वित्तजा सेवा कर हम तनुजा सेवा करते हैं तो ऐसी सेवा 'क्षीरकारणसामग्री'न्यायेन मानसीकी साधिका न भी हो तब भी उसे निषिद्ध नहीं माना जा सकता!(द्रष्टव्य : विम.पू.सं.९२-९३).

वैसे तो हकीकत एक यही है कि मतभेद प्राचीन व्याख्याकारोंमें भी होते थे कि भगवत्संयोग परमफल है या भगवद्विप्रयोग; परन्तु, आद्य श्रीवल्लभ और हम आधुनिक वाल्लभों के बीच मतभेदकी रेखाको स्पष्ट करना हो तो केवल एकही बात घूम फिर कर सामने आती है कि भगवत्सेवाके प्रदर्शनद्वारा जनतासे द्रव्य लिया जा सकता है या नहीं? इस तरहकी जघन्यकोटीके मतभेदोंमें उलझी हमारी सामर्थ्यके वश हम दर्शनार्थी जनताकी उद्धार करनेकी मनोवृत्ति या मनोग्रन्थि रखते हों तो हमसे अधिक आत्मसंमूढ विश्वमें और कौन होगा?

प्राचीन वाल्लभ उपदेश था:

धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थे तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः॥

हम आधुनिक वाल्लभवंशजोंका मनोभाव इसके विपरीत ऐसा

बन गया है :

धनं सर्वात्मना ग्राह्यं गृहीतुं चेन्न शक्यते।
'सेवा'नाम्नातु गृह्णीयाद् अर्थोऽनर्थनिवारकः॥

इसलिये अर्वाचीन प्रयोजन दर्शनार्थिजनोद्धारसे पहले हम गोस्वामिओंको हमारा उद्धार कैसे होगा इसका मार्गदर्शन श्रीहरिरायचरणके इन शब्दोंमें खोजना चाहिये :

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये॥
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्॥

निष्कर्षतया जैसे कि प्रभुचरणकी सुस्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा मिलती ही हैं :

(१)''कृष्णसेवा' इति फलात्मकनामोक्त्या स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेन.''
(सिद्धा.मुक्ता.विवृ.१).

(२)''भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वं भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्... नच 'माम्' इति पदेन पूजायाअपि विषयः पुरुषोत्तमएव इति वाच्यं विभूतिरूपस्यापि भगवद्रूपत्वात् तथा उक्तम्... अन्यफलाद्यनुसन्धानरहित्यपूर्वकं भगवद्भावनायां क्रियमाणायां पुरुषोत्तमावेशोऽपि अन्तःकरणे पूज्ये च भवति... तत्रापि अर्थार्थिभिः कृतः चेत् तदा तथा (*कर्ममार्गीयः*), वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव, शौचार्थिगङ्गास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यरित्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात्

पापमपि."

(भक्तिहंस).

अतः जनोद्धारके छद्मसे वित्तोपार्जनार्थ की जाती भगवत्सेवा अन्यशेषतया अनुष्ठित होनेसे शुद्ध अपसिद्धान्तरूपा ही नहीं प्रत्युत पापाचरण ही सिद्ध होती है. चि.महाकविकी कथा तो लोकविलक्षणा मानी जा सकती है परन्तु प्रातःस्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी सदृश आर्दश व्यक्तिके द्वारा सुपाठित उनके आत्मज विमर्शकारद्वारा वृत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवाकी वकालत वस्तुतः पुष्टिसम्प्रदायकेलिये सामुदायिक लज्जाका विषय है, सिर नीचा हो जाता है कि क्या मूंह ले कर अब किसीको पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्ति प्रवाहभक्ति और पापाचरण के बीच रही भेदरेखा समझानी!

वैसे जनोद्धारार्थ या वित्तोपार्जनार्थ ये दोनों अलग-अलग प्रयोजन हैं परन्तु चि.महाकवि, जैसे अधिकारभेदवश स्वीकारते हैं, वैसे ही विमर्शकार प्रकरणभेदशः दोनोंको स्वीकारते तो हैं ही फिर दोनोंका एकवद्भावद्वारा निरूपण दोषावह नहीं माना जा सकता (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.-४५ तथा २०१).

इस समग्र विषयकी संग्रहकारिका

लोकार्थी तु भजन् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥
जीविकार्थी भजन् कृष्णं भवेद् देवलकोऽशुचिः॥१॥
लोकार्थित्वं जीविकार्थित्वं च गर्ह्ये प्रयोजने॥
सेवा नहीदृशी कार्या पुष्टिमार्गानुगामिभिः॥२॥
कृष्णो हि साधनं भक्ती भक्तिः कृष्णे हि साधनम्॥
ताभ्यामन्यत्तु यत् किञ्चित् न फलं नापि साधनम्॥३॥
फलसाधनयोः स्थाने एतद्भिन्ने प्रकल्पिते॥
न सा भक्तिः पुष्टिभक्तिः कृष्णः पुष्टिप्रभुर्नवा॥४॥
जनतोद्धृतये तस्मात् सेवायास्तु प्रदर्शनम्॥

कल्पितो हि प्रकारोऽयं मार्गे दुर्भाववयोगतः॥५॥
शिक्षाश्लोक्यां हि "लोकार्थी..."कारिकावितावपि॥
आचार्याणां स्फुटाभिप्रायान्न जनतोद्धृतिः॥६॥
सेवाप्रयोजनत्वेन वक्तुं शक्या कथञ्चन॥
ननु प्रयोजनं नैतत् सेवायामानुषंगिकी॥७॥
प्रवृत्तिरेषा मन्तव्येति चेद् न तथा भवेत्॥
नियतानियता वेति प्रवृत्तिर्ह्यानुषंगिकी॥८॥
आद्ये सर्वैः कुतो नैवम् अनुष्ठानं प्रदर्श्यते॥
सर्वे न गुरवो यस्मात् सर्वैः कर्तुं न शक्यते॥९॥
गुर्वभावस्य कल्पेतु "तादृशाश्चेन् मिलन्ति हि॥
प्रकारांशे तु प्रष्टव्याः सेवाया"श्चेति वाक्यतः॥१०॥
अन्येषामधिकारेऽपि हानिर्नैवास्ति काचन॥
स्वाच्छन्द्यान्मार्गलोपस्य शंका चेद् वंशजैरपि॥११॥
स्वाच्छन्द्यादेव मार्गोऽयं लुप्तप्रायः कृतोऽधुना॥
तस्माद् यद् हरिरायैस्तु शिक्षापत्रे निरूपितम्॥१२॥
विस्मर्तव्यं न केनापि ह्येतन्मार्गानुगामिना॥१३॥
तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः॥
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये॥१४॥
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन॥
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्॥१५॥

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

'सेवोपदेशदीक्षा' तथा 'सेवोपदेष्टा' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

(विषयवाक्य)

(क)परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गारुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह—कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात् (त.दी.नि.का.२।२२७).

'कृष्णसेवापरम्' इति, योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात्, तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति. 'जिज्ञासुः' नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं' सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या (त.दी.नि.प्रका.२।२२७).

'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. ''ईक्ष' दर्शनाङ्कनयोः'', 'विना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे ''गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम्'' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात्, तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्... तेन ब्रह्मसम्बन्धोऽपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्धयति. एवम्

अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः (त.दी.नि.आव.२-।२७).

(क)यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हींके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको, भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं, इस कसोटीपर उसे जाँचनेपर ही निश्चित हो पाता है.

अतः जिनपर भगवत्कृपा रहती है उनके प्रारम्भिक साधनोंका निरूपण करते हैं—

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रख कर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त(दंभ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा)के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवाभी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवा करने प्रवृत्त होता है तो वह सेवा सफल नहीं हो पाती. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला

व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है(त.दी.नि.का.प्रका.२।२२७).

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य' पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष'का अर्थ होता है: 'देखना' या 'अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोड़नेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसे पशुका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जायेगा. और एक दिन दोनों ही, एक-दूसरेके कारण, एकसाथ ही गिर पड़ेंगे, जब भी एक जन गिरा तब! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद'ग्रन्थ प्रकट किया है... इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुजीने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये (त.दी.नि.आव.२।२२७).

(ख)माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां, शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर् भवेत्, कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्, देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः, गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः.(साधनदीपिका : १-११)

(ख)भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति जान लेनेके बाद ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर उसकी आज्ञाके अनुसार भगवद्भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा (न कि सेवाप्रदर्शन या सेवार्थ वित्तग्रहण द्वारा) उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

(ग)क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः(जलभेद : - ४).ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे "कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता" इति ब्रह्मणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, "मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते" इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्यात् च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं "विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतो अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति" इति, तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारित दानेतु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेयः(श्रीपुरुषोत्तम-कृत-विवृति : ४).

(ग)घर-गृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढ़ानेवाली

होती है(ज.भे.का.४).

यहां एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखंडमें "कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता" इस ब्रह्माजीको कहे गये पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा "मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते" श्रीनन्दको कहे गये इस. भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गई भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय तो हुवा ही न! यह बात तो ठीक ही है फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अतः उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती... इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है "पात्रापात्रका विचार करके ही दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करनेपर स्वयं नामदान करनेवालेका ही विनाश हो जाता है". अतः अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनाके वश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता उसके विक्रयका अपराधी बन जाता है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.वि.४).

(घ)सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह—

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्, परिचर्या सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्.

'तदभावे' इति. 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम्

अभावयुक्ते, 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति (त.दी.नि.का.प्रका.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपातः इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं निवच्छन्त आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे "यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो हयाश्रमात् पृथग्" इति आभासत्वाभावः सेवायाः; तृतीयस्कन्धोक्त-मौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम् (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८).

(घ)ऐसा गुरु तो बड़ी कठिनाईसे ही मिल सकता है. अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये, यह अब दिखलाया जा रहा है : ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवान्‌की मूर्तिको अपना आराध्य बनाकर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवान्‌के रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं. किसी ऐसे देशमें कि जहाँ सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.का.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि ऐसे इस गुरुलक्षणके कारण तो इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. अतः जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर कलियुगके बलवान् होनेके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या

करना चाहिये? इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयंमें ही प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि उपरिनिर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है, इसे शिरोधार्य करनी ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें "यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्" इस वचनमें निन्दित धर्माभासता या पाषण्ड का आरोप नहीं लगता; और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढ़ताका आरोप भी ऐसी भगवत्सेवा करनेवालेपर लग नहीं सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषकी जिज्ञासा होनेपर, सेवाके जानकार वैसे किसी भगवदीयसे मिलजुल कर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८).

(ङ)गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः श्रीभागावतत-त्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र निदामकः. अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूतोऽपि हि, उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति, यदि दुःसङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः (श्रीहरि.कृत स्व.श.स.से.निरू.४०-५१).

(ङ)गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्त्वको जाननेवाला तथा दम्भादिसे रहित होना चाहिये. ऐसे लक्षणवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेश ग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणवाले न भी हों फिरभी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न श्रीकृष्णज्ञानप्रद गुरु श्रीमदाचार्यचरणके वचनानुसारी उपदेश

मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है, यदि दुःसंगादिसे मति ही अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गयी हो (तत्रैव).

(च)अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरो विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने प्रयच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः (स्वमा.स्वरू.स्थाप.-प्रका.१६-११७).

(च)श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर किसी भी प्रकारकी शिष्यसे अपेक्षा रखे बिना, समुपस्थित जीवात्माका परमात्माद्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अतः ऐसा पुष्टिजीव पुष्टिलाभसे वञ्चित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेको सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके माथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (नकि केवल गुरुभावतया अथवा स्वसेव्यसे न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये (तत्रैव).

(छ)...वञ्चकस्तु ततोऽप्येष... तेतु मार्गं चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः (द्र.आमुख : दुःस.विज्ञा.निरू.१३-३५).

(छ)चोरोंकी तुलनामें वञ्चक तो अधिक दुष्ट होता है... जबकि भक्तजन तो कडवी दवाके जैसी बातें करके भी सन्मार्गकी ओर ही ले जाना चाहता है...(द्र.आमुख : तत्रैव).

(ज)यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः संसृतिप्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमो, यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनां, निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः (शि.प.३।८-९).

(ज)आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारेक बातें करता हो उसका संग दुष्टसंग होता है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष हो उसका संग साधुसंग होता है (तत्रैव).

(झ)तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तञ्च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् 'अमृता'ख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं सङ्कोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः (स्ववृत्तिवाद).

(झ)इससे फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या वृत्ति है. यही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछ भी कार्य किये बिना मुफ्तमें धन ले लेनेपर लेनेवाला उसका ऋणी बन जाता है जो बन्धनकारी होता है. इसके अलावा ऋतवृत्तिके बाद जो 'अमृत' नामिका अयाचित वृत्ति कहीं गयी है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचितग्रहण करनेका आग्रह रखा जाये, हर किसीसे नहीं, तो ऐसा संकोच और भी प्रशंसनीय है (तत्रैव).

(ञ)गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानन्तरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति (त.दी.नि.प्र.आ.२५५-२५६).

(ञ)सेवोपदेश ग्रहण करना चाहनेवाले व्यक्तिकी वेश (भाषा भाव रुचि आचार विचार)के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा कर के और उसकी जिज्ञासा क्या है यह जान कर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवा आदिका उपदेश

करना चाहिये (तत्रैव).

(संशय)

इस परिच्छेदमें हमें यह देखना है कि उल्लिखित (क) से (ञ) तकके विषयवाक्योंके आधारपर अथवा एतत्समानार्थक अन्य भी पूर्वाचार्योंके वचनोंके आधारपर पुष्टिमार्गीय सेवाके उपदेशप्रकार एवं दीक्षाप्रकार के विमर्श करनेपर क्या कोई उपदेशक गुरु या गुरुस्थानीय व्यक्ति जनसाधारणके सन्मुख अपनी भगवत्सेवाका प्रदर्शन कर सकता है या नहीं? अपने आराध्य प्रभुकी सेवाके लिये अनुयायिजन अथवा अननुयायिजन से वित्त ले सकता है या नहीं? जब कोई निजगृहमें निजमस्तकपर बिराजमान भगवत्स्वरूपकी तनुवित्तजात्मिका सेवा निजपरिजनोंके सहयोगसे सम्पन्न करता हो तो निज सेव्यस्वरूपकी सेवाके दूसरें लोगोंको दर्शन कराने तथा दर्शनार्थिओंकी भीड़से सन्मुखभेंट तथा समाधानीद्वारा मनोरथोंकी निश्चितानिश्चित राशीकी वसूली एवं भंडारीद्वारा घी-गुड़-दाल-चावल-मसाला आदि सामग्री जुटाने से सेवाप्रदर्शनार्थी तथा सेवादर्शनार्थी को क्या वस्तुतः भक्तिमार्गीय लाभ होता है या अपराध? अतः इसमें उभरते पूर्वपक्षकी संगतिका निरूपण पहले आवश्यक प्रतीत होता है.

(पूर्वपक्ष)

इस संशयग्रस्त विषयको विचारनेकी आवश्यकता या संगति यों हैं—

(१)"भगवद्भावस्य स्सात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्व-भावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वभगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत. एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात्प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिः आविष्करणं भवति. प्राकट्येतु न तथा सम्भवति" (अणुभा.३।४।४९).

(२)"स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत" (साध.दीपि.१७८).

(३)"३८ तमो अपराधः = गुरुदैवतयोः गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्वयोनित्रयम्. ११अपराधो = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं = वार्षिकसेवा निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नापनम्. ३६ तमो अपराधः = भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम् = उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चगुणितनैवेद्यदानम्. ३५ तमो अपराधः = गुर्वाज्ञोल्लंघनम्. फलम् = असिपत्रादिघोरनरकपातः. प्रायश्चित्तं = वैष्णवगुरुप्रसादनम्."

(श्रीहरिरायकृत-६६ अपराध फल-प्रायश्चित्तानि).

इन वचनोंके कारण निज सेव्यस्वरूपकी सेवाका प्रदर्शन यदि सिद्धान्तनिषिद्ध होता तो, महाप्रभु तथा प्रभुचरणों की वार्तालापोंमें, अनेक स्वमार्गीय/अस्वमार्गीय वैष्णव/अवैष्णवों भक्त-अभक्तों को भगवदर्शन करानेके उल्लेखको अकारण अप्रामाणिक मानना पड़ेगा. इससे यह सिद्ध होता है कि दर्शनके निषेधका नियम यदि गम्भीर होता तो वह सम्प्रदायके आचार्योंके चरित्रमें भी प्रकट होना चाहिये था. प्रत्युत इन नियमोंके विपरीत ही वृत्तान्तोंके उपलब्ध होनेसे ऐसे किसी भी नियमकी गम्भीरता सिद्ध नहीं हो पाती है.

प्रस्तुत अनुच्छेदके विषयवाक्यान्तर्गत (क) तथा (ख) वचनोंमे गुरु स्वयं कृष्णसेवामें परायण है या नहीं इसके वीक्षण = भली भांति परीक्षणकी बात कही गयी है. अतः भावसंगोपनके दुराग्रहके अन्तर्गत यदि भगवत्सेवाको सर्वथा गुप्त ही रखी जाये तो इस सम्प्रदायमें जो दीक्षित होना चाहता हो वह दीक्षाके लेनेसे पहले दीक्षादाताका वीक्षण कैसे कर पायेगा? अतः भगवत्सेवाके उपदेश एवं दीक्षा की प्रणालीके आधारपर भी भगवत्सेवाके प्रदर्शन कमसे कम सेवोपदेष्टा या सेवादीक्षादाता गुरुके लिये कोई आपत्तिजनक बात होनी नहीं चाहिये.

विषयवाक्यान्तर्गत (ग) वचनमें गुरुत्ववृत्तिको साहजिक वृत्तितया

'अत्याज्य' कहा गया होनेसे गुरुत्वकी योग्यताके घटकतया भी भगवत्सेवाप्रदर्शनको दोषरूप नहीं माना जा सकता है. अतः सेवाप्रदर्शनको तथा प्रदर्शनीय सेवार्थ परधनस्वीकारको गुरुदक्षिणात्वेन दोषरहित मान लेना चाहिये.

ये पूर्वपक्ष न तो सिद्धान्तचर्चासभामें चि.महाकविद्वारा प्रस्तुत हैं और न विमर्शकारद्वारा उपस्थापित. फिरभी वैसी मनोवृत्तिकी सम्भावनामें सहज प्रस्तुत हो सकते हैं. अतः विचारार्थ स्वयं मेरेद्वारा ही उट्टंकित है.

(उत्तरपक्ष)

इस सन्दर्भमें महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचनोंके स्वारसिक अभिप्रायकी निश्छल मीमांसा करनेपर यह उत्तरपक्ष अवधेय है.

गुरुत्वेन वरणीय पुरुषके कृष्णसेवापरायण होनेकी भलीभांति परीक्षा करना जैसे दीक्षार्थीका कर्तव्य है, वैसे ही उस गुरुत्वेन वरणीय पुरुषद्वारा अनुष्ठित सेवाके प्रकारकी सिद्धान्तशुद्धताकी भी परीक्षा करणीय है कि नहीं? यदि परीक्षा करणीय है, ऐसा स्वीकार कर चलते हैं तो जिस व्यक्तिका गुरुत्वेन वरण करके उससे सेवोपदेश प्राप्त करना है, उससे पहले ही सेवोपदेष्टा बनने जाते तथा उपदेशग्रहणार्थी दोनों ही व्यक्तिओंको भगवत्सेवाके सच्चे स्वरूपका परिज्ञान आवश्यक मानना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें जिज्ञासाका लोप भी सम्भव है. जिज्ञासुता ही न रह जानेपर गुरुके द्वारा किया गया सेवाप्रदर्शन या ज्ञानोपदेश भी निरर्थक सिद्ध होगा. यदि दीक्षार्थीको स्वयं सेवाके शुद्धाशुद्ध स्वरूपका ज्ञान न हो तो गुरुत्वेन वरणीय व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा सिद्धान्तशुद्ध है या अपसिद्धान्तयुक्त यह जाने बिना गुरु सेवापरायण है कि नहीं अथवा उसके द्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा स्वमार्गीय सिद्धान्त एवं प्रणालिका के अनुसार है कि नहीं यह जान पाना भी शक्य न हो पायेगा.

यह उभयतःपाश है.

अतः अपरिहार्यतया इस उभयतःपाशसे मुक्त होनेकी ऐसी कुछ कल्पना करनी ही पड़ेगी कि दीक्षार्थी जिज्ञासु व्यक्तिको कृष्णसेवाके साम्प्रदायिक सेवास्वरूपके बारेमें सूक्ष्म सिद्धान्त एवं प्रकारों का परिज्ञान भले न हो परन्तु स्थूल सिद्धान्त एवं प्रकारों का परिज्ञान तो अपेक्षित होता ही है. तो फिर यह भी स्वीकार लेना चाहिये कि भगवत्सेवाके स्थूल प्रकार एवं स्थूल सिद्धान्तों का सामान्यज्ञान सेवाप्रदर्शनमें दर्शक बने बिना भी कर्णोपकर्ण सत्संगकी प्रक्रियाद्वारा अथवा सामान्य धर्मोपदेशद्वारा ही शक्य होनेपर उसीके आधारपर गुरुत्वेन वरणीय व्यक्तिकी भी भलीभांति परीक्षा कर लेनेकी परिपाटी सुशक्य मान लेनी चाहिये. अतः तदर्थ भगवत्सेवाप्रदर्शन आवश्यक नहीं रह जाता है. उदाहरणतया — "किसी रुग्णको अपनी चिकित्सा करानेसे पहले, स्वयं चिकित्सक, रोगनिदान एवं चिकित्सा का भलीभांति जानकार है कि नहीं? वह प्राणापहारी लोभादि दोषोंसे रहित है कि नहीं तथा जो औषधि वह देता है वह शुद्ध है कि नहीं इसका भलीभांति परीक्षण करके किसी चिकित्सकके पास चिकित्सार्थी बनकर जाना चाहिये" — ऐसे विधानकी विवेचनामें भी उभयतःपाश खोजा सकता है कि यह चिकित्साशास्त्रको पहले भलीभांति जाने बिना सम्भव नहीं और जान लेनेपर अन्य किसी चिकित्सकद्वारा चिकित्सा करानेके बजाय स्वयं ही चिकित्सा भी शक्य बन जायेगी.

इसी तरह कोई धर्मगुरु भी जब अपनी धर्मसाधना निजात्मार्थ न करके जनसंग्रहार्थ या धनसंग्रहार्थ करता है, तो वह अपनी धर्मसाधनाको साधन और धनजनसंग्रहको फल मान रहा है. ऐसी स्थितिमें (क) वचनमें निरूपित "मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः" ऐसे व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा निष्फल होनेसे सेवोपदेष्टा बनना चाहते व्यक्तिकी (क) वचनमें निरूपित कृष्णसेवापरता असिद्ध हो

जानेसे वह व्यक्ति गुरुत्वेन वरणार्थ अयोग्य सिद्ध हो जाता है. ऐसी स्थितिमें श्रीहरिरायजीके "...तत्सङ्गे दुष्टसङ्गमः... एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः. श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा" (शि.प.३।८-११) वचनसंगतिके अनुरोधवश "तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा... परिचर्यां सदा कुर्यात्" (त.दी.नि.२।२२८) कल्प समाश्रयणीय बन जाता है. क्योंकि अन्यथा जहां वह स्वयं रहता ही न हो ऐसे गामोंमें अर्थोपार्जनार्थ हवेलियोंको मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन रख कर चलानेकी आवश्यकता क्या हो सकती है? क्यों वह वहांके अनुयायिओंको स्वयं उनके घरमें ही भगवत्सेवापरायण रहनेकी प्रेरणा नहीं दे पाता? अतः प्रतीत होता है कि ग्रामान्तरोंमें प्रदर्श्यमान भगवत्सेवा कर्तव्यभाववश की जाती भगवत्सेवा होनेके बजाय (क) वचनमें निरूपित निमित्तान्तरवश ही की जाती होनी चाहिये. अर्थात् देवलकत्वापादक दम्भवशात् ही की जा रही है. तो वह तो गुरुत्वका अर्थात् सेवादीक्षा अथवा सेवाज्ञा प्रदान कर पानेकी अधिकारिताका निवारक दोष हो गया. ऐसी स्थितिमें उल्लिखित श्रीहरिरायजीके वचन तथा आवरणभङ्गकार श्रीपुरुषोत्तमजीके "लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगन्धान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयं... एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः"(त.दी.नि.प्र.आ.२२७) पारस्परिक संगतिके अनुरोधवश ऐसे पू.पा.महाराजश्री व्यावर्तित सिद्ध हो ही जाते हैं. उल्लेखनीय है कि श्रीपुरुषोत्तमजी इस तरहके अयोग्यव्यक्तिके व्यावर्तनार्थ ही महाप्रभुद्वारा 'जलभेद' ग्रन्थके निर्माणकी बात जो कर रहे हैं वह व्यावर्तन स्वयं उन्हींके शब्दोंमें "क्षेत्रप्रविष्टा ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः" (ज.भे.४)की विवृतितया "गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... लोभाद् अविचारितदानेनु दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति" निरूपित हुवा है. अतः दोनों वचनोंकी परस्पर संगति भी बैठ जाती है कि अविचारित दीक्षा प्रदान करनेपर भी जहां दाताको लोभदोषवशात् अपराधी माना जा रहा है वहां अपनी प्रदर्श्यमान भगवत्सेवामें अविचारितता

दर्शनानुज्ञा प्रदान तथा वित्तजा सेवानुज्ञा प्रदान करनेवाला व्यक्ति तो कितना अधिक अपराधी बन जाता होगा! विमर्शकारको "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते" इस सन्दर्भमें पुनः याद दिलाना चाहेंगे. अर्थात् अविचारितामदीक्षाके दानवश नामविक्रयापत्ति होती हो जो अपराधरूपा होती है तो अविचारित दर्शनानुज्ञादान और वित्तजा सेवानुज्ञादान *("जो दर्शन करने आया है वह भक्त ही होगा!"* द्र.विम.पृ.सं.८० तथा २०९) क्यों रूपविक्रय नहीं होने चाहिये?

विमर्शकार (पृ.सं.२११) पर कहते हैं कि "इस एक वाक्यसे ही व्यवस्था करने चलनेपर ब्रह्मसम्बन्धके बिना ही भगवत्सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे रहे हैं ऐसा भ्रम होता है. यद्यपि यह विषय यहां कहना नहीं है तथापि प्रसंगतः कहा गया है. 'तदभावे स्वयं वापि' इस वाक्यका तात्पर्य आगे स्पष्ट किया जायेगा" (विम.पृ.सं.१०-१४). आगे जब भी जो कुछ विमर्शकार स्पष्ट करेंगे उसका भी विचार निश्चय करेंगे परन्तु वह जब तक प्रकट नहीं किया जाता तब तक इतनी बात तो अवश्य कही जा सकती है कि हम यहां केवल एक वचनके आधारपर कुछ कह नहीं रहे हैं प्रत्युत महाप्रभु, प्रभुचरण गोस्वामिश्रीगोपीनाथजी तथा गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी ही नहीं; अपितु, श्रीहरिरायजी एवं श्रीपुरुषोत्तमजी आदि सभीके वचनोंकी एकवाक्यताके आधारपर यह जो कुछ कह रहे हैं वह आधारित है. क्योंकि महाप्रभु (क) वचनमें "तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या" आज्ञा प्रदान कर रहे हैं नकि "तदा तत्प्रदर्शिता सेवा द्रष्टव्या अथवा तत्समाधानीद्वारा याचितसेवार्थं वित्तजा सेवा कर्तव्या" आज्ञा कर रहे हैं. अतएव श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण भी (ख) वचनमें अनुयायिजनोद्धारार्थं "माहात्म्यज्ञापनायैव श्र(/श्रा!)वणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्र आकाङ्क्ष गुरोर्भवेत्... गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्याः स्वोपदेशतः" भगवन्माहात्म्य भगवद्गुण भगवल्लीला के श्रवणार्थ ही शास्त्रानुसारी उपदेशकी ही बात कर रहे नकि भगवत्सेवाप्रदर्शनकी. श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण भी (ग)वचनमें उद्धृत कारिकामें

अविचारित दीक्षा प्रदानके कारण दीक्षादाता गुरुके अपराधी होनेकी निन्दा कर रहे हैं सो "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थ असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते" न्यायानुसार अविचारित भगवत्सेवादर्शनानुज्ञा या वित्तजसेवानुज्ञा पर भी लागू करनेमें विमर्शकारको बाधा क्या लग रही है, यदि उसे अपनी आजीविका ही बनानेकी कोई विवशता न हो तो! श्रीहरिरायजी भी दुःसंगविज्ञाननिरूपणमें "तदीयत्वभ्रमात् तस्मिन् विश्वासो संगदोषतो असत्यपि सद्भावात् पतनं भक्तिमार्गतः अतएवोक्तम् आचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणं 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्यै'त्यादिपदे निबन्धगे...अनाकारितएवासौ सङ्गे लगति सर्वथा प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन. स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः" (दु.वि.प्र.२०-३४) द्रव्यार्थ विमोहित जो दर्शन करने आ रहा है वह भगवद्भक्त ही होगा ऐसा अविचारित उपदेश या अविचारित अनुज्ञा अपने भगवत्सेवाप्रदर्शनमें देता हो उसके सङ्गको महाप्रभुद्वारा आज्ञप्त वीक्षणकी प्रक्रियाद्वारा दुष्टसङ्गतया निर्धारित करना चाहते हैं सो एकवाक्यता सर्वथा सुस्पष्ट ही है. आवरणभङ्गकार श्रीपुरुषोत्तमजी तो इन सर्वनिर्णयकारिकाओंके आवरणभङ्गमें "कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्यज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे... आभासात्वाभावः सेवायाः... मौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः" (त.दी.नि.प्र.आ.२२८) सुस्पष्टतम शब्दोंमें श्रीमदाचार्यचरणोंके अनन्यगुरुके प्रतिपादनपूर्वक स्वतो भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेकी रीतिको आचार्यचरणाज्ञप्त ही मान कर चल रहे हैं. फिरभी इस निजाचार्याज्ञाकी अवहेलना कर विमर्शकारका यह कह पानेका महान् दुःसाहस कि "इस एक वाक्यसे ही व्यवस्था करने चलनेपर ब्रह्मसम्बन्धके बिना ही भगवत्सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे रहे हैं ऐसा भ्रम होता है" आचार्यचरणके साथ ही असूयामें पर्यवसित हो रहा है! किन्तु गर्हणीयम् अतः परम्! लगता है कि श्रीहरिरायचरणनिरूपित ६६ अपराधोंमेंसे ११ वें अपराधकी वक़ालत विमर्शकार ३६ वें अपराधकी दुर्दम मनोवृत्तिवश कर रहे हैं जिसके कारण श्रीहरिरायजीके अनुसार ३५ वें अपराधके और वे अपराधी

ही सिद्ध होते हैं!. यह सभी इन उद्धृत वचनोंकी एकवाक्यतामूलक निष्कर्ष है किसी एकाद वचनका लेभागू अभिप्रायाविष्करण नहीं.

इस ३६ वें अपराधकी मनोवृत्तिके विवश कोई व्यक्ति जनधनसंग्रहकी निम्नमनोवृत्तिका भी उदात्तीकृत प्रयोजन जनतोद्धार प्रचारित कर सकता है. इसमें, परन्तु, समझनेकी बात यही है कि प्रत्येक व्यक्तिका आत्मोद्धार तो स्वयं उसके द्वारा अनुष्ठित धर्माचरण "तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा" द्वारा ही सम्भव होता है नकि तत्प्रदर्शित भगवत्सेवाप्रदर्शनको केवल आर्थिक प्रोत्साहन देनेमात्रसे. स्वधर्मानुष्ठान स्वयंकृत होना चाहिये परकृत धर्मानुष्ठानके हेतु केवल वित्तप्रदाता दर्शक बननेसे आत्मोद्धारकी कल्पना अतीव बचकानी मनोवृत्ति प्रकट करती है.

यदि परकृत धर्मानुष्ठानके हेतु वित्तदानपूर्वक दर्शनमात्रसे आत्मोद्धार शक्य हो जाता हो तो जिस कनिष्ठ गोस्वामीने जिस ज्येष्ठ गोस्वामीसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा ली हो उस दीक्षाप्रदाताके द्वारा अनुष्ठित कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे कनिष्ठ दीक्षाग्रहीता गोस्वामीका भी उद्धार शक्य हो जाना चाहिये था. यदि जनसाधारणका व्यावसायिक छप्पनभोगके प्रदर्शनमें दर्शक या आर्थिक सहयोग प्रदान करनेमात्रसे ८४ लाख योनिओंमें चलनेवाले जन्ममरणके दुष्चक्रसे छुटकारा हो जाता हो तो कनिष्ठ गोस्वामीका भी हो जाना चाहिये. यदि नित्यप्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनोंके असकृद् आवर्तनोंसे ही जनसाधारणका उद्धार हो जाता हो तो कनिष्ठ गोस्वामीका भी हो जाना चाहिये. यदि सकृद् अथवा असकृद् दर्शनोंके आवर्तनोंके बावजूद गोस्वामिसमाजका उद्धार स्वयंकृत कृष्णसेवासे ही होता हो तो वही बात जनसाधारणके लिये भी सत्य होनी चाहिये. यदि इसे इष्टापत्तिके रूपमें स्वीकारा जाता है तो ज्येष्ठ गोस्वामिप्रदर्शित कृष्णसेवाद्वारा ही केवल कनिष्ठ गोस्वामिओंका उद्धार निश्चित हो जानेके कारण कनिष्ठ गोस्वामिओंकी कृष्णसेवाका प्रयोजन केवल जनोद्धार ही शेष रह जायेगा. अर्थात् आत्मोद्धार नहीं. तब यह प्रश्न उठ खड़ा होगा

कि कृष्णसेवाप्रदर्शन क्या —

(क)अन्यनिरपेक्ष वैकल्पिक या आनुकल्पिक एकाकी उद्धार साधन है?

अथवा

(ख)अन्यसापेक्ष सहकारिकारण?

अथवा

(ग)अन्य किसी अंगी अनुष्ठानका अंगभूत या आनुषंगिक साधन है?

(क)इनमें वैकल्पिक साधन होनेके कल्पको स्वीकारनेपर तो दर्शनार्थी जनताको [१]ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करना, [२]उससे अपने ठाकुरजीके लिये भेंट-सामग्री-मनोरथके रुपये ऐंठनेको वित्तजा सेवा करानी, [३]उसे प्रवचन-भागवतकथा सुनाना या [४]ब्रजयात्रा करवाना आदि सभी जलताडनवत् निरर्थक क्रिया सिद्ध होंगी.

भगवत्सेवाप्रदर्शनको आत्मोद्धारका आनुकल्पिक कारण/साधन माननेपर मुख्य कल्प जो भी हो उसपर भार देनेके बजाय इस अनुकल्पके अनन्यावलम्बनकी आवश्यकता क्या? मुख्य कल्प यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' हो और वह वैष्णवोंसे देशकालकी विपरीतताके कारण निभ नहीं पाती, ऐसा मान लेते हैं, तो उपदेशकर्ता स्वयं उस मुख्य कल्पका अवलम्बन क्यों नहीं करते? महाप्रभु तो स्वयं स्पष्ट आज्ञा करते हैं "योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद्" (वहीं) इससे स्पष्ट होता है कि गुरु सेवाके जिस या जैसे प्रकारको उत्तम मानता हो तदनुसार गुरुके उपदेश और अनुष्ठान में एकरूपता होनी चाहिये. तनुवित्तजा सेवाके आचार्योपदिष्ट कल्पकी अक्षम्य अवहेलनाके बावजूद 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवाके कपोलकल्पित प्रकारका भी अनुष्ठान हम सेवाप्रदर्शक गोस्वामिओंके आचारणमें भलीभांति अनुष्ठित होता दिखलाई तो नहीं देता. क्योंकि

अधिकांश तनुजा सेवा पगारदार नोकर करते हैं और वित्तजा सेवा प्रायः दर्शनार्थी जनता ही. अतः भगवत्सेवाप्रदर्शनके आनुकल्पिक एकाकी कारण होनेकी कल्पना करनेपर मुख्य कारण अन्य कोई अनुपदिष्ट अप्रदर्शित है, जबकि उपदेश्य प्रदर्शित कारण कृष्णसेवाका भोंडा प्रदर्शन होगा अनुकल्परूप. इस तरह उपदिष्ट एवं अनुष्ठित धर्मोंमें भेद किसी न किसी तरहके दम्भका ही प्रमाण बन जायेगा.

(ख)यदि इस कारणसे भगवत्सेवाप्रदर्शनको आत्मोद्धारके अन्य किसी/किन्हीं साधन/साधनोंका सहकारी कारणके रूपमें स्वीकारा जाये तो जिन दर्शनार्थी व्यक्तिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अथवा भागवतकथाप्रवचनोपदेश एवं व्रजयात्रा सेवाप्रदर्शक गोस्वामी न कराते हों उनके सन्दर्भमें कृष्णसेवाप्रदर्शन जलताडनवत् निरर्थक क्रिया सिद्ध होगी.

यदि कहा जाये कि बहुजनके उद्धारार्थ अनुष्ठित कृष्णसेवाप्रदर्शनके कारण अब्रह्मसम्बन्धी या भेंटसामग्रीमनोरथोंके निमित्त वित्तजा न करनेवाले कतिपय अवैष्णव मुफतिया दर्शनार्थिओंका उद्धार सहकारी कारणके अभाववश न भी हो पाता हो, एतावता कृष्णसेवाप्रदर्शनको निरर्थक नहीं माना जा सकता, तो इस नैरर्थक्यपरिहारके सन्दर्भमें यह कथनीय है कि कमसे कम मन्दिरोंके द्वारपर एक चपरासी तो दर्शनार्थिओंकी भीड़की छंटनीके लिये नियुक्त करना चाहिये. ताकी सबको यह वास्तविकता पता चल जाये कि सहकारी कारणके अभावमें केवल कृष्णसेवाप्रदर्शनमें दर्शक बननेसे आत्मोद्धार नहीं हो जाता है! इससे एक और अतिरिक्त सूचना हम प्रदर्शनप्रेमी गोस्वामिओंको उपलब्ध हो पायेगी कि दर्शनार्थिओंमें ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे कितने लोग होते हैं और कितने लोग ऐसे ही जो आत्मोद्धारकी भावनावश नहीं प्रत्युत एक धार्मिक तमाशा या साधारण कुतुहलवश आ धमकते हैं. कुतुहलवश जागी दर्शनार्थिता दर्शन में अनधिकारिता है ऐसा तो विमर्शकारने (पृष्ठ.२०५) स्वीकारा है तब भी उसकी सावधानी तथाकथित अपनी षष्ठपीठमें ली जाती

हो ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं होते. उस चपरासीसे निरन्तर यह भी घोषणा करवाई जा सकती है कि "ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये बिना एवं वित्तजा सेवाके बिना, केवल कृष्णसेवाप्रदर्शनमें दर्शक बननेसे आत्मोद्धार नहीं होगा." हमारे मन्दिरोंमें इस व्यवस्थाका प्रावधान रखे बिना वैष्णव बहुजनोंके उद्धारकी बात तो युक्तियुक्त नहीं लगती.

(ग)यदि कृष्णसेवाप्रदर्शन आत्मोद्धारका एक आनुषंगिक कारण हो तो मुख्य कारण कौन सा है यह खुलासा भी करना पड़ेगा. यदि तनुवित्तजा सेवा हो तो सेवोपदेष्टा हम गुसांई स्वयं वह क्यों नहीं करते? यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवा तो भी क्यों मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन रखते हैं और क्यों वैष्णवावैष्णव दर्शनार्थिओंसे सेवाके नामपर धन ऐंठते हैं? प्रदर्शनके गौण या आनुषंगिक कारण होनेपर भी उसपर इतना भार कि निरन्तर विज्ञापनोंद्वारा उसका ही प्रचार करते हैं परन्तु मुख्य कारणका प्रचार विज्ञापनोंद्वारा क्यों नहीं करते? यदि कहा जाये कि कृष्णसेवाप्रदर्शन निषिद्ध तो माना नहीं गया है केवल आनुषंगिक माना गया है और आधुनिक वैष्णव समुदाय उनके आत्मोद्धारके मुख्य कारण तनुजा-वित्तजा सेवाको निभा पानेमें सक्षम नहीं. अतः अनुकल्पके अवलम्बनद्वारा उनके उद्धारके केवल सदाशयवश कृष्णसेवाप्रदर्शनपर इतना प्रचारभार दिया जाता है. अतः इसे सभीको अनुमोदनीय ही मानना चाहिये.

वास्तविकता इस विषयमें यह है कि आज जितनी महत्ता दर्शनकी सीधी या तिरछी तरह दिखलाई जा रही है, उसे देखते हुवे कोई भी इसे पुष्टिमार्गीय धर्मानुष्ठानकी आनुषंगिक या अनुकल्परूपा प्रवृत्ति मान नहीं पायेगा. कई दर्शनार्थी हम गोस्वामिओंद्वारा प्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनके बिना घरमें भोजन भी नहीं करते. उन्हें रोकने-टोकनेके बजाय प. भ. के रूपमें बिरदाया जाता है. कई बार तो कण्ठतः वैष्णवोंको उनके घरमें बिराजते ठाकुरजीकी उत्सवसेवा हमारी कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे

पहले न करनेकी भी आज्ञा दी जाती है.

तनुवित्तजा न सही तनुजा/वित्तजा सेवाको भी सिद्धान्ताभिमत मान कर चलें तो भी हम अनेक गोस्वामिओंके अनेकानेक मन्दिर जो अनेकानेक गांवोंमें चलाये जा रहे हैं, वहां तो हम गोस्वामिओंका उपस्थित रह पाना भी शक्य नहीं तो तनुजा सेवाका तो प्रश्न ही उठ नहीं सकता. रही बात वित्तजा सेवाकी तो वहां जिस मन्दिरमें हम स्थायिरूपेण निवास करते हैं उस मन्दिरमें हमारे स्वयं आयके स्त्रोत हमारी चरणभेंट, अथवा और भी जो कुछ हों, उनसे सेवाप्रकार नहीं निभाते प्रत्युत ठाकुरजीकी सन्मुखभेंट, भंडारमें और पेढ़ी में जमा होनेवाली सामग्री और मनोरथसेवा आदि अनेकविध भेंटोंसे सेवा निभाते हैं. अपनी चरणभेंट तो अपने टी.वी. विडिओ नई-नई कारमॉडेलों आदिके वैभव निभानेमें ही खर्ची जाती है.

इसके अलावा कृष्णसेवाप्रदर्शन यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवाकी आनुषंगिक प्रवृत्ति हो तो वह केवल हम गोस्वामिओंका एकाधिकार क्यों बना दी गयी है? जो भी पुष्टिमार्गानुगामी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र या वर्णाश्रमेतर व्यक्ति भी, क्योंकि कृष्णसेवार्थ तो सभीको अधिकारी माना गया है, हम गोस्वामिओंकी तरह व्यावसायिक सेवाप्रदर्शन क्यों नहीं कर सकता? क्या हमें अपने इस व्यवसायपर अपने एकाधिकारको हानि पहुंचनेकी भीति सताती है?

यदि 'हां'में उत्तर दिया जाये तो बात खुल गयी कि कृष्णसेवा हम गोस्वामिओंकी भक्तिमयी प्रवृत्ति न हो कर केवल अर्थोपार्जनार्थ एक आंजीविका मात्र है. अन्यथा अधिकाधिक मन्दिरोंके उद्घाटन करवा कर सभीको कृष्णसेवाप्रदर्शनार्थ क्यों प्रेरित नहीं किया जाता है. जनतामें बहुसंख्याक जीवोंके उद्धार होनेमें बुराई क्या हो सकती है!

केवल हम गोस्वामिओंकी गुर्वाज्ञाकी मर्यादा हो तो आर्थिक

या कानूनी हक जताये बिना केवल नामसे जुड़े हुवे होनेसे आज्ञानुसार चलते होना अनिवार्य बताया जा सकता है. उसमें भी पुनः भीति यहीं अन्तर्मनमें सताती होनी चाहिये कि ऐसे मन्दिर अधिक प्रसिद्ध या जनप्रिय बन कर हमारी कृष्णसेवाकी व्यावसायिक गतिविधिमें कहीं प्रतिस्पर्धी न बन जायें!

इसके अलावा यह भी तो विचारणीय है कि हम गोस्वामिओंके नाम और आज्ञा में क्या वस्तुतः इतनी दिव्य सामर्थ्य है कि स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी सेवा अथवा सेवाका प्रदर्शन भी हमारी आज्ञाके आधीन ही हो कर जनोद्धारक हो पाते हैं? अन्यथा नहीं!

यदि यह नियम त्रैकालिक या शाश्वत हो तो इसका निरूपण भागवतादि भक्तिप्रतिपादक शास्त्रोंमें क्यों नहीं मिलता? यदि यह नियम तात्कालिक या व्यावहारिक है, तो ऐसे नियमके औचित्य एवं सम्प्रदायके हितमें होनेका प्रमाण क्या? क्योंकि यदि सार्वकालिक इस नियमको मानते हैं तो भागवतादि अवतारकथाओंमें वर्णित अनेकानेक जीवोंके उद्धारको अप्रमाणिक मानना पड़ेगा. क्योंकि वहां हम गोस्वामिओंकी आज्ञासे उद्धारका कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता. और त्रैकालिक न मान कर वल्लभवंशजोंकी विद्यमानताके कालमें सीमित नियम मानते हैं तो केवल कालसीमा ही क्यों देशसीमा क्यों नहीं इस नियमपर लादी जाती कि "जिस देशमें वल्लभवंशज गोस्वामी विद्यमान हों वहां हम गोस्वामिओंकी आज्ञा एवं नामसे जुड़े बिना कृष्णसेवाप्रदर्शन जनोद्धारक नहीं होगा?"

यदि ऐसा देशनियम भी स्वीकार लिया जाता है तो हमारी जिन अनेकानेक हवेलिओंमें हम रहने नहीं जाते उनमें चल रहे व्यावसायिक कृष्णसेवाप्रदर्शनकी उद्धारकता निरस्त हो जायेगी. क्योंकि जिन छोटे-छोटे

नगर या गांवों में हमें प्रचुर आय नहीं होती चरणभेंट-पधरामणी-तपेली आदिकी वहांकी पुष्टिमार्गीय निर्धन जनता हम गोस्वामिओंके पधारनेकी बांट चातक बन कर निहारती रहती है परन्तु हम जाना पसन्द नहीं करते.

यदि इस नियमको कालमें सीमित परन्तु सार्वदेशिक मान लेते हैं तो जो गोस्वामिमहानुभाव जहां अपने व्यावसायिक मन्दिर चला नहीं पाते वहां उन उन गोस्वामिओंसे ली हुयी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा निरर्थक सिद्ध होगी. क्योंकि कृष्णसेवाको प्रदर्शित करनेवाला किसी गोस्वामीके नामसे जुड़ा मन्दिर वहां चल ही नहीं रहा. अतः दीक्षा प्रयोजनहीन बन जायेगी.

कोष्टक (क)के अन्तर्गत उद्धृत महाप्रभुवचन तथा श्रीपुरुषोत्तमजीकृत उसकी व्याख्या दोनोंके आधारपर यह स्पष्टतया दिखलायी देता है कि कृष्णसेवोपदेशदीक्षाकी सफलता ''भागवततत्त्वज्ञत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति कृष्णसेवापरायणत्वे सति नरत्वं'' लक्षणवाले गुरुसे ग्रहण करनेपर निरूपित हुयी है नकि केवल वल्लभवंशजत्वके आधारपर : ''एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः'' (वहीं) व्याख्याके आधारपर यह करतलामलकवत् स्पष्ट है.

यह तो हम कह ही चुके हैं कि ''तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या'' (वहीं) विधान उपलब्ध होता है नकि ''तदा तत्प्रदर्शिता सेवा द्रष्टव्या''. अतः वास्तविक सिद्धान्त और वर्तमान अन्धरूढ़ि के बीच आकाश-पातालका अन्तर स्पष्ट दिखलायी देता है.

यह भी दिखला चुके कि कोष्टक (ख)के वचनमें भी यही सूचित हो रहा है कि भगवन्माहात्म्यज्ञानके लिये भगवद्गुण एवं भगवच्चरित्र का श्रवण आवश्यक होता है और इस आवश्यकताकी पूर्ति शास्त्रोंसे

होती है और शास्त्रोपदेशग्रहणार्थ ही गुरुकी अपेक्षा होती है. वह गुरु महाप्रभु निर्दिष्ट लक्षणविशिष्ट होना चाहिये. ऐसे गुरुके उपदेशके अनुसार, स्वधर्मानुष्ठानसे उद्धार सिद्धान्तित हुवा नकि सेवाप्रदर्शनसे या सेवादर्शनसे. स्पष्ट है कि गुरुकी यहां इस वचनमें दृष्टोपकारकता निरूपित हुयी है नकि अदृष्टोपकारकता.

कोष्टक (ग)के रूपमें उद्धृत वचनकी भी मीमांसामें भगवन्नामोपदेशद्वारा गुरुत्वकी वृत्तिसे भी भगवन्नामविक्रयके दोषका परिहार तभी सम्भव माना है जब वह केवल कर्तव्यनिर्वाहबुद्ध्या तथा शिष्योद्धारैकप्रयोजनवश कथञ्चित् अपनायी जाती हो. अन्यथा धनलोलुपतावश या अधिकारविवेक रखे बिना किये जानेपर तो नामोपदेशदीक्षा भी उपदेशरूपा न होकर विक्रयरूपा बन जाती है. अतः ''**एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' न्यायके अनुसार ही भगवत्सेवोपदेश भी भगवत्स्वरूप/भगवद्भजनके विक्रयमें विकृत न हो जाये इसकी नितान्त सावधानी अपेक्षित थी. ऐसी स्थितिमें व्यावसायिक सेवाप्रदर्शनकी कथा तो सिद्धान्तसे कितनी दूरापास्त है!

यदि वैष्णवावैष्णव या स्वीयास्वीय के अधिकारविचार और विवेक के बिना सभी दर्शकोंके सामने सेवाप्रदर्शन और सभीसे द्रव्य तदर्थ ऐंठा जाता हो तो उसे भगवत्स्वरूप तथा भगवत्सेवा का विक्रय ही मानना पड़ेगा.

उल्लेखनीय हो जाता है कि विमर्शकारने कृष्णसेवाप्रकरण (पृ. ५-१०)में क्रीत या विक्रीत तनुजा सेवायें मानसीकी साधिका सेवा नहीं होती, एतावता उन्हें निषिद्ध नहीं मान लेना चाहिये ऐसा अश्रुतपूर्व-अकल्पितपूर्व कुविमर्श तो कर दिया परन्तु वे भूल गये कि नामविक्रयको जब नामविक्रेताका विनाशकारी दोष माना गया है तो ''**एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' न्यायानुसारिणी

शुद्धा सात्त्विकी मति रखते हुवे भगवत्सेवाके भी क्रय-विक्रयको भी दोषरूप मानना क्यों भूल गये? भगवत्सेवाको आजीविका ही बनानेका ऐसा भी दुराग्रह किस कामका?

यों कृष्णसेवाप्रदर्शन दर्शनार्थी जनताका उद्धारक होता है, इस धारणाके खण्डित होनेपर भी "तुष्यतु दुर्जनन्यायेन" कथञ्चित स्वीकारनेको उद्यत भी हम हो जायें एतावता अपनी सेवाके प्रदर्शनद्वारा दर्शनार्थी जनतासे द्रव्य ऐंठनेकी बात कथमपि उचित ठहरानी शक्य नहीं लगती.

"विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति" वचनके अनुसार जब पुष्टिमार्गप्रवेशार्थ नामदीक्षाग्रहणमें सभीका अधिकार मान्य नहीं रखा गया तब पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे सभीका उद्धार हो जायेगा ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है. "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि पुज्यते" न्यायके अनुसार ही.

कोष्टक (घ)के वचनके अनुसार यह भी हम दिखला ही चुके हैं कि मार्गप्रवेशार्थ आधुनिक गुरुओंकी अपेक्षा या उपयोगिता होनेपर भी अनिवार्यता नहीं है. क्योंकि कृष्णसेवामें स्वयं भी प्रवृत्त हुआ जा सकता है और ऐसी कृष्णसेवामें न तो धर्माभास होनेका दोष स्वीकारा गया है और न कृष्णसेवामें स्वतः प्रवृत्त होनेवालेके बारेमें मौढ्यादि दोष ही स्वीकारे गये हैं. तब महाप्रभूपदिष्ट लक्षणवाले या लक्षणरहित हम गोस्वामिओंद्वारा प्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनकी अपरिहार्य न होनेके बारेमें प्रश्न भी उठ नहीं सकता है.

कुछ लोग कहते हैं कि "जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्" (सर्वोत्तमस्तोत्र : १२) नामके अनुसार धार्मिक जनताको भगवत्सेवाके प्रशिक्षणार्थ प्रदर्शन आवश्यक होता है ताकि प्रदर्शित सेवाविधिको जान

कर स्वयं निजगृहमें अनुयायिजन भलीभांति सेवा कर पायें.

इस सन्दर्भमें कई तथ्य विचारणीय लगते हैं. यथा——

(१)आजकी तारीखमें यह रेडिमेड सेवाप्रदर्शन लोगोंमें कितनी गृहसेवारुचि जगानेमें बढ़ानेमें और निभानेमें सक्षम हुआ है अथवा घटाने और नष्ट करनेमें सफल हुआ है, इसके पुष्टिमार्गीय सर्वेक्षणद्वारा कितने प्रतिशत क्या कर रहे हैं इसका आकलन जब तक कोई प्रकट न करता हो तब तक कोई प्रामाणिक अभिप्राय कैसे बांधा जा सकता है?

(२)इन सेवाप्रदर्शनोंमें भटकनेवाले दर्शनार्थिओंकी निष्ठा स्वमार्गीय सिद्धान्त साधना धर्मोपदेश या धर्मोपदेशकों में भी बढ़नेके बजाय घटी है. क्योंकि अन्यमार्गीय सिद्धान्त साधना और धर्मोपदेश करनेवालोंको सुनने मानने जानेवालोंमें अधिकांश नहीं भी तो अच्छी-खासी तादातमें पुष्टिमार्गीय वैष्णव या वैष्णवपुत्र होते ही हैं. कृष्णसेवाप्रदर्शनकी, साम्प्रदायिक हितके सन्दर्भमें, इससे अधिक निरर्थकता और क्या हो सकती है?

(३)स्वयं इन रेडिमेड प्रदर्शनोंसे होनेवाली रेडिमेड आमदनीके कारण आश्वस्त हम गोस्वामिओंमें स्वमार्गीय ग्रन्थोंके भी——मूलभूत शास्त्र या अन्यमार्गीय ग्रन्थोंकी कथा ही दूरापास्त है——अध्ययन-अभ्यासकी रुचि क्षीणप्राय रहती है. परिणामरूपेण कतिपय अपठित गोस्वामी बालकों तो गंडा-ताबीज झाड़-फूंकके गोरखधंधेमें वैष्णवोंकोभी उलझाना पड़ रहा है.

(४)अपने घरमें ब्रह्मवर्चस्वी गोस्वामी आचार्योंचित गौरवपूर्ण जीवन जीनेके बजाय धनिक वणिग्जनोंको ट्रस्टी बना कर

उपानदुपलेही बन कर देवलकतोपजीवन करनेको बाधित होना पड़ता है. कुछ गोस्वामिओंको निजगेहस्थित प्रभुपरसे अपना स्वत्व भी खोना पड़ा है. चोरी आदिके आरोप लगाकर कुछ गोस्वामिओंका भगवत्सेवामेंसे निष्कासन भी हुआ है. स्वयं विमर्शकारको हालमें अपने सेव्यस्वरूपको वराछामें अपने बंगलामेंसे पुनः चौटाबाजार स्थित जर्जर भवनमें पधरानेको बाधित होना.)

(५)वीडिओ जैसी आधुनिक कमखर्चीली प्रशिक्षण सुविधाओं द्वारा भगवत्सेवाप्रशिक्षण सुकर होनेपर भी केवल जनप्रशिक्षणके क्षुद्र प्रयोजनार्थ अपनी कृष्णसेवा जैसी दिव्यतम साधनाको व्यावसायिक प्रदर्शन बनाना कहां भक्तिमार्गीय नीतिमत्ता या बुद्धिमत्ता हो सकती है? नित्यसेवा ऋतुसेवा उत्सवसेवा मनोरथसेवा के वीडिओसेट तैयार कर वितरण और/अथवा विक्रय कर कृष्णभक्तिप्रशिक्षण सिद्धान्तशुद्ध गौरवपूर्ण ढंगसे भी दिया जा सकता है.

(६)महाप्रभुके नाममें भी ''जनशिक्षाकृते कृष्णभक्ति कृत्'' पद प्रयुक्त हुवे हैं परन्तु ''जनशिक्षाकृते कृष्णसेवाजीविकाकृद्'' अथवा ''जनशिक्षाकृते कृष्णसेवाप्रदर्शनिकृद्'' पद प्रयुक्त नहीं हुवे है.

(७)आज महाप्रभु और प्रभुचरण के निधि सेव्यस्वरूपोंमें से बहुतोंके ऊपर उनके हम वंशजोंका स्वत्व इसी सेवाप्रदर्शनकी जघन्य मनोवृत्तिके वश निःशेष हुवा है. अपने देहसम्बन्धी बहुबेटिओंको तो अन्योंकी कुदृष्टिकी आशंकाके वश परदेकी ओटमें हमने छिपाये रखना चाहा परन्तु अपने आत्मसम्बन्धी सेव्यस्वरूपपरसे जहां पहुंचनेपर स्वत्व खोना पड़े ऐसी सीमाओंको लांघकर भी प्रदर्शन करना चाहा. हमें न तो पुष्टिमार्गीय विवेक और न किसी तरहकी आत्मसम्मानमूलक

लज्जा ही अपने इन कुकृत्योंसे बचनेको हमें रोक पायी! इससे अधिक निम्नतर कक्षा हमारे अधःपतनकी और क्या हो सकती है?.

(८)यदि कृष्णसेवाप्रशिक्षण हमारी कृष्णसेवाका वास्तविक प्रयोजन हो तो वह कृष्णसेवा न तो कर्तव्यभावसे और न तत्सुखके भावसे अनुप्राणित मानी जा सकती है. अतः ऐसी अवस्थामें लोकहितार्थ केवल होनेके कारण वह भगवदर्थ न होनेसे आधिदैविक दृष्टिसे कितनी निम्नस्तरीय बन जाती है. इसके विपरीत अनेक हमारे अनुगामी जनोंके घरोंमें अनुष्ठित भगवत्सेवा या भगवत्सुखैकार्थ होनेसे आधिदैविक या आत्मकर्तव्यता अनुष्ठित होनेसे आध्यात्मिक रूपा ही होती है, आधिभौतिक तो नहीं ही. यों कृष्णसेवाके उपदेशकोंकी कृष्णसेवासे तो वह हर तरह उच्चस्तरीय होती है. अतः हम कृष्णसेवोपदेशक गोस्वामिओंको हमारे शिष्योंसे भगवत्सेवाका वास्तविक स्वरूप एवं प्रयोजन समझना चाहिये, उन्हें गुरुतया मान्य रख कर.

(९)यदि वस्तुतः कृष्णसेवाप्रशिक्षणार्थ कृष्णसेवाप्रदर्शनका औचित्य हम सिद्ध करना चाहते हों तो भी दर्शनार्थिओंके प्रशिक्षणार्थ उन्हें सेवामें जो भीतर नहाना चाहे उसे रोकना टोकना नहीं चाहिये. सेवा को देखनेके बजाय सेवा को करने देनेसे प्रशिक्षण और भलीभांति दिया जा सकता है.

वैसे पता नहीं कि इतना वाहियात तर्क विमर्शकारको अभीष्ट है कि नहीं परन्तु अन्य कई हमारे देवलकबन्धु भरी सभामें ऐसा तर्क देते हैं.

इस तरह **'कृष्णसेवोपदेशदीक्षा'** शीर्षकके अन्तर्गत प्रस्तुत

विषयवाक्योंका स्वारसिक अर्थविचार करनेपर कृष्णसेवाप्रदर्शनकी सिद्धान्तविपरीतता सिद्ध होती है. इसके बाद 'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्योंके विचारार्थ प्रस्तुत होनेसे पूर्व प्रस्तुत प्रकरणसे सम्बन्धित विचारोंकी संग्रहकारिका सुविधार्थ यहां प्रस्तुत कर रहे हैं :

संग्रहकारिका

प्रदर्शनेनोद्धारश्चेद् दर्शकस्य यदा तदा।।
उद्धाराय बहूनां तु कुतो न क्रियतेऽधुना।।१।।
सर्वैर्हि पुष्टिमार्गीयैः कृष्णसेवाप्रदर्शनम्।।
गोस्वाम्येकेकृतं तच्च मतं सेवाप्रदर्शनम्।।२।।
तत् किं तेषां प्रभुः सेव्यः परार्थइति हेतुना।।
उत सेवैव दम्भार्था क्रियते तैरिति स्थितिः ?।।३।।
तत्र नाद्यः परार्थत्वे गोस्वामिगृहताक्षतेः।।
परार्थश्च गृहे चेति न कथं व्याहतः स्वतः !।।४।।
वन्ध्या च जननीचेयं नारीति कथनं यथा।।
दम्भैकार्था ततः सेवा दीक्षादातृत्वलोपिका।।५।।
तथा चोक्तं निबन्धस्य सर्वनिर्णयवर्णने।।
''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्'' ।।६।।
इहावरणभंगेऽपि व्याख्यातं नृभिः स्फुटम्।।
''अधिकारसूचनेनैवं मार्गे ह्यनधिकारिणी।।७।।
लोकानुगः पशुह्यन्धोऽपरस्तमनुगस्तथा।।
व्यावर्तितावुभौ तेन कथं तस्योद्धृतिर्भवेत् ?।।८।।
जलभेदस्य विवृतौ प्रभूक्तं समुदाहृतम्।।
पुरुषोत्तमैस्तु तच्चेह स्मर्तव्यं हि सर्वदा।।९।।
''विचार्यैव सदा देयं 'कृष्ण' नाम विशेषतः।।
अविचारित दानेन स्वयं दाता विनश्यति''।।१०।।
मार्गेऽत्र दीक्षाग्रहणाधिकारो
नो सर्वगस्तत्र मुधास्मदीयाः।।

उद्धारमोहेन परस्य तेऽत्र
जाता स्वयं नो पतयालवः किं !।।११।।
गोपीनाथप्रभूक्तं च ह्यवधेयं स्वमार्गिभिः।।
''माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्।।१२।।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरो''रिति।।
आकांक्षा नैव तस्येह कृष्णसेवाप्रदर्शने।।१३।।
प्रदर्शनेन नोद्धारो ह्युद्धारः स्वोपदेशतः।।
दुर्लभत्वे तु तस्यापि ह्याचार्यवचसा स्फुटे।।१४।।
स्वयं वा कृष्णसेवैका निजोद्धृतिकरा सदा।।
कर्तुश्च मौढ्यदम्भादिदोषराहित्यवर्णनाद्।।१५।।
सेवोपदेशदीक्षादेः सिद्धान्ते दातृकर्तृकम्।।
सेवाप्रदर्शनं नैव जनतोद्धारकारणम्।।१६।।
'जनशिक्षाकृतेकृष्णभक्तिकृद्वंशजा'इति।।
प्रदर्शनं हि सेवायाः नन्वेषं न विरुद्धयते।।१७।।
जनशिक्षाथवा कृष्णसेवा स्यादत्र वै फलम् ?।।
अन्त्ये किमन्तर्गडुना जनानां शिक्षणेन तु।।१८।।
गुरुत्वादिति चेन्नात्र दम्भादिरहिता सदा।।
श्रीकृष्णसेवापरता प्रथमा योग्यता मता।।१९।।
प्रदर्शनकृते सेवा कृता चेद् दम्भितैव हि।।
नो भक्तिर्नैव धर्मो वा जनोद्धारकरः क्वचित्।।२०।।
नाम्नैतेन निजाचार्यनिन्दनं किमु कार्यते ?।।
इति चेन्नहि तन्नास्ति कृष्णभक्तिप्रदर्शनम्।।२१।।
उच्यते किन्तु कर्तृत्वं ह्यपाषण्डित्वबोधकम्।।
आचिनोति शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि।।२२।।
यश्चोपदिशत्यन्यान् तमाचार्यं विदुर्जनाः।।
निबन्धेऽप्येवमेवाहुराचार्यचरणाः स्फुटम्।।२३।।
''उपदेक्ष्यन्हि तां सेवामुत्तमां यदि मन्यते।।
स्वयमेव कुतो नायं कृष्णसेवापरो भवेत ?''।।२४।।

इति हेतोः सदा कृष्णसेवायां तत्परं जनम्॥
संवीक्ष्य वै गुरुं कुर्यात् साधनं हीदमादिमम्॥२५॥
तस्मान्नैवोपदेशेहि प्रदर्शनम् अपेक्ष्यते॥
न परार्था ततः कृष्ण-सेवा सिद्धान्तसम्मता॥२६॥
अथापि चेत् प्रदर्शनं मतं वरं हि साधनं
कृतं तदा कृतेन कायिकेन सेवनेन तु
यतोहि वर्ततेऽधुना तु साधनं हि वीडियोः॥
प्रदर्श्यते कुतो न तेन वार्षिकं हि सेवनम्॥२७॥

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्यामसनोहरेण विरचिता
'सेवोपदेशदीक्षा'-'सेवोपदेष्टृ'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

'सेव्यस्वरूप'शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

(विषयवाक्य)

(क)गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते—अगुप्तो रसो रसाभासः स्यात् (सुबो.१०।१८।५—१०।५९।४४).

(क)गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है—प्रकट होनेपर वही रस रसाभास बन जाता है (तत्रैव)..

(ख)सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह—
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्॥

'तदभावे' इति. 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थानाम् अभावयुक्ते, 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं श्रेथा निरूपयति 'तद्रूपम्' इति. वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो, भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्रच स्थितम्' इति (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारापातः! इति आकांक्षायां, कलेः बलिष्ठेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, "यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग्" इति आभासत्वाभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्तमीढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशाः यदि मिलन्ति तदा

प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम् (त.दी.नि.आ.१।२२८).

(ख)ऐसा गुरु तो बड़ी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है-ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानूका रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते है. यह किसी ऐसे देशमें कि जहाँ सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, श्रीहरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर भजन करने लग जाना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है, उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहाँ एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है-जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है, वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चल कर कलियुगके बलवान् होनेके कारण यदि उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये? इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयंमें ही प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर जो स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें "यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथक्" इस वचनमें निन्दित धर्माभासता या पाषण्ड का आरोप नहीं लग सकता. और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढ़ताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त हो जानेपर भी, भगवत्सेवासम्बन्धी किसी

प्रकारविशेषके बारेमें जिज्ञासा होनेपर, किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ-जान लेने में कोई आपत्ति नहीं. यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.आ.२।२२८).

(ग)गुरुदत्तां स्वयं लब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम्।
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते॥
(साध.दीपि.९०).

(ग)भगवत्स्वरूप चाहे गुरुकेद्वारा अपने माँथे पधराया गया हो, या स्वयं कहींसे प्राप्त हुवा हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो; अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है वह है तो 'अपने माँथे बिराजता सेव्यस्वरूप' ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो (अर्थात् वहां 'वॉल्टेज' कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साध.दीपि.९०).

(घ)सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते।
प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तौ सेवा विधीयते॥
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम्।
भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता॥
पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम्।
विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः॥
मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्त्वतः।
अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत्॥
(श्रीहरिरायकृत : स्वमा.शर.सम.से.नि.३९-४१).

(घ)अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण सर्वप्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट

होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षाद् भगवद्रूप ही होती है. पूजामार्गके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा मन्त्रादिकी विधिके कारण मूर्तिमें पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य मार्गोंकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप मानी गयी है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्वतः सुवर्ण बन जाती हैं, वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार तत्त्वतः साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है (श्रीहरिरायकृत : स्वमा.शर.सम.से.नि.३९-४१).

(ङ)स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते।
तदेकहृदयस्थायी तद्भावः कृष्णएव हि॥
लीलासहस्रवलितः सामग्रीसहितस्तथा।
भावनीयः सदानन्दः सदानन्दादिलालितः॥
इदमेवोक्तमाचार्यैः सिद्धान्तस्थ निरूपणे।
"आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवे"ति यद्वचः॥
तदाशयस्तु विवृतः कृपयैव प्रभोर्मया।
अवगत्य जनाः सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा॥
(श्रीहरिरायकृत श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार : १-१३).

(ङ)स्वमार्गीय सेव्यस्वरूपके चिन्तनका प्रकार अब कहा जाता है... पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह-निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं, जो श्रीकृष्ण अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्रीके सहित बिराजमान रहते हैं. ऐसे सदानन्दरूप और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तोंद्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें "आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये" इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने

यही बताया है. उसके आशयका विवरण प्रभुचरण श्रीगुसाँईकी कृपासे मैंने किया ताकि सभी लोग उसे भलीभांति समझ कर सदा श्रीहरिका चिन्तन कर पायें (श्रीहरिरायकृत श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार : १-१३).

(च)भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः।
सेव्यमानं सदा भावैर्निरोधं साधयेद् ध्रुवम्॥
(श्रीहरिरायकृत स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार : १८).

(च)श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे भक्तिमार्गीयोंद्वारा पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध-प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति-को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरिरायकृत स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार : १८).

(संशय)

संशय इन वचनोंके आधारपर यहां यह उठता है कि पुष्टिमार्गमें भगवत्स्वरूप भावात्मक होनेसे रसात्मक होता है और अतएव वह भावात्मिका सामग्री और भावात्मिका सेवा का ही अंगीकार करता है, यह बात यदि सत्य हो तो (क)वचनके आधारपर न केवल स्वरूप अपितु सेवा-सामग्री सभी कुछ संगोपनीय होनी चाहिये. यों इस सुबोधिनीके वचनकी तात्पर्योद्भिना 'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत पूर्वोदाहृत भगवद्भावाविष्करणनिषेधपरक "लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत" (अणुभा.३।४।९) भाष्यवचनके साथ समन्वयसाधिका बात लगती है. इस अभिप्रायकी श्रीगोपीनाथप्रभुचरणकी सेवा या सेव्य के प्रदर्शनकी अनुज्ञा "स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" (सा.दी.१०८) के साथ तुलना करनेपर ऐसे 'स्वीय भक्तों'को पूर्वोक्त सामान्यनिषेधका अपवादरूप विशेषविधान स्वीकारना पड़ता है. उसके बाद कोई स्वीय भी हो और देवतान्तरका भक्त भी हो तो उसे दर्शन कराने कि नहीं? इसका स्पष्टीकरण पूर्वोदाहृत श्रीहरिरायचरणके "११.अपराधः=अवैष्णवस्य सेव्यप्रदर्शनम्.

फलं=वार्षिकसेवानिष्फलत्वं, प्रायश्चित्तं=पञ्चामृतस्नानम्. ३६तमो अपराधो भगवन्नाम्ना याचनम्. फलं=उपचारनैष्फल्यं. प्रायश्चित्तं= पञ्चगुणितनैवेद्यदानम्" (षटष.अप.फ.प्राय.) वचनमें उपलब्ध होता है. अतः यहां भी पुनः सामान्यविशेषभाव संगति ही स्फुट होती है. पुनः जैसा कि विमर्शकारने भावप्रकाशका एक वचन उद्धृत किया ही है कि "अपने ठाकुरजीके दर्शन अन्यमार्गीकों न करावने यहू जतायो" (दो सौ बावन वार्ता : ३८।१) तो यहभी सामान्यविशेषभावानुपाती बन कर या तो वैष्णवोंमें भी कदाचित् स्वमार्गीय वैष्णवके ही दर्शनाधिकारकी नियतिका अथवा अधिकाधिक अस्वमार्गीय वैष्णव भक्तोंके भी दर्शनाधिकारके नियमका विधायक बन कर अपने सेव्य तथा उनकी सेवा के एतदितरके दर्शनाधिकारके निषेधमें पर्यवसित होगा. (ख) वचनमें जैसा निरूपण मिलता है तदनुसार सेवांगीकरणार्थ "एनम् उद्धरिष्यामि" पदप्रयोगवशात् भगवान्का यह विशेष प्राकट्य ही होता है, सर्वजनसाधारण प्राकट्य नहीं. अतएव ६६ अपराधान्तर्गत ३६ वां अपराध भगवत्सेवाके नाम ले कर परायोंका द्रव्य/सामग्री ले कर सेवामें विनियोगका पुष्टिभावके साथ ३६ आंकड़ेका सम्बन्ध है यह किशोरी बाईकी वार्तामें — "तब श्रीठाकुरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगे?(वार्ता) यामें यह जताये जो वैष्णवकों औरकी सत्ता-सामग्री अपने श्रीठाकुरजीको आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें लैके श्रीठाकुरजीको विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें(भा.प्र.)" (२५२ वैष्ण.वा.२०९।२) आते इस नियमके साथ एकवाक्यता करनेपर यह बात और भी पुष्ट हो जाती है.

स्वयं विमर्शकारने भी 'पुष्टिने शीतल छांयड़े'में पहले यह सिद्धान्त स्वीकारा ही था —

> "पुष्टिमार्गमें जो स्वरूप अपने मांथे पधराया जाता है वह प्रभु(स्वरूप) और उनकी सेवा प्रत्येकको व्यक्तिगत रूपमें उसकी भावनाके अनुसार पधराया जाता है. अपने

> श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवका एकमात्र निजी कर्तव्य बन जानेवाला निजी धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामूहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी अथवा माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करना उनका व्यक्तिगत धर्म कर्तव्य और अधिकार होता है. इसी तरह जिस सेवकका जो सेव्य स्वरूप हो उनकी सेवा करनेका उसका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होता है. सेवा यह कोई सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी अपने घरमें की जाती स्वधर्मरूप प्रवृत्ति है."
>
> (पु.शी.छां.पृ.सं.१५७).

अब, परन्तु, वही व्यक्ति 'विमर्श'में "सेवार्थ अनुग्रहपूर्वक द्रव्यग्रहीता एवं द्रव्यसे सम्पन्न प्रसादके ग्रहीतामें देवलकत्वादि नहीं" (विम.पृ.सं.३३) ऐसा विपरीत विधान करे तो इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवत्सेवार्थ परद्रव्य लिया जा सकता है या नहीं इस बारेमें पुष्टिमार्गमें वैष्णव अनुयायी तथा वैष्णव गुरु यों दोनोंकेलिये अलग-अलग तरहके नियम हैं!

क्यां सचमुचमें ऐसा हो सकता है, यह भी संशय होता है. कहीं ऐसा तो नहीं जब अपनेपर कोई कानूनी आपत्ति आये तब पू.पा.गोस्वामिओंकी भगवत्सेवा निजी कर्तव्य और निजी गृह की प्रवृत्ति बन जाती है और जब वह बाधा निवृत्त हो जाये तो पुनः भगवत्सेवा गुरु-शिष्योंके बीच, आर्थिक आदानप्रदानकी समुदायिक प्रवृत्ति! एतदर्थ हम देख चुकें है कि पू.पा.श्रीव्रजरत्नलाल महाराजश्रीने नड़ियादकी सैद्धान्तिक गवाहीमें वैष्णवोंके द्वारा पू.पा.महाराजोंके हवेलिओंमें न तो तनुजा और न वित्तजा सेवा की कोई पद्धति होनी स्वीकारी थी. साथ ही साथ इस स्पष्टीकरणके साथ ऐसा व्यवहार कहीं चलता हो तो उसे पुष्टिमार्गीय

नहीं माना जा सकता. वह गवाहीके तौरपर परन्तु सूरत-बड़ौदा-कलोल की स्वयंकी हवेलियोंको सन् ८० में निजी घोषित करवानेको तत्कालीन असीस्टेंट् चेरीटी कमिश्नर् श्रीमान् एन्.के.झवेरीके समक्ष प्रस्तुत सिद्धान्तके नमूने कुछ देखने लायक हैं :

> "All celebration, seva, puja of a deity is made by maharajshri. Vaishanav or public has nothing to do for that"(p.10). "As against that it is the case of the opponent that whatever offerings or gifts are made they are made to maharajshri...All celebration seva, puja of a deity or idol is made by maharajshri or Acharya. Vaishana or public has nothing to to do for that" (p.12).

और इस तरह निजी मान्य करा कर कानूनी बाधा दूर हो जानेपर अब केवल एक ही युग अर्थात् बारह वर्षके बाद पुनः सकल शिष्टाचारकी दुहाई दे कर वैष्णवोंसे द्रव्य लेनेका सिद्धान्त प्रकट हो गया है 'विमर्श' में देखिये :

> "किशोरी बाईको जिस वैष्णवने ठाकुरजीकेलिए सामग्री दी है वह किशोरी बाईके परिवारका है या शिष्य है इसमें कोई प्रमाण नहीं है. सकल शिष्टाचारके अनुसार परिवार आदिके द्वारा प्रदत्त सामग्रीका भगवत्सेवामें विनियोग करना मान्य होनेसे किशोरी बाईकी वार्ताके भावप्रकाशमें वर्णित नियमको परिवारजन तथा गुरुशिष्य स्थलमें न मानना ही उचित है."
>
> "सेव्यसन्तोषजनकक्रिया सेवा कहलाती है. ऐसी स्थितिमें शिष्योंद्वारा गुरुघरके ठाकुरजीकेलिये सोंपे गये द्रव्यपर शिष्योंके स्वत्वको रखना या न रखना गुरुके सन्तोषपर निर्भर रहता

है."

(विम.पू.सं.११—१३).

ऐसा सिद्धान्त प्रकट हो गया! अतः ऐसी परस्पर विरोधाभासी स्वीकृतिओंको देखनेपर वास्तविक सिद्धान्तके बारेमें संशय उठ जाना स्वाभाविक ही है. अतः पूर्वस्वीकृतिके आधारपर सेवा/तत्सामग्री भी सार्वजनिक प्रदर्शनार्ह नहीं हो सकती. नूतन विमर्शके आधारपर हो सकती हैं.

वैसे गुरुद्वारा पुष्ट किये गये हों या नहीं, भगवत्स्वरूपके भगवत्त्वमें, महाप्रभुके अनुसार, कोई न्यूनाधिक भाव तो होता नहीं है परन्तु वह भगवत्त्व पुनः सेवार्थ समुद्यत भक्तविशेषके विशेषभावोंका ही अनुकारी होता है या सर्वसाधारण जनताके सर्वसाधारण भावोंका भी अनुकारी हो सकता है?

श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा किये गये (क)वचनके व्याख्यानके अनुसार इस प्रकारकी सेवा करनेमें गुरुद्वारा सेवाकर्ताकि आत्मनिवेदनदीक्षामें दीक्षित होने या सेव्यस्वरूपके पुष्ट किये जानेको अनिवार्य नहीं माना गया है. और ऐसा करनेमें, श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसारे, न तो धर्माभास न पाषण्ड और न मूढ़ता आदि दोषकी ही कोई संभावना सोची जा सकती है. अतः पू.पा.गोस्वामिओंके ही यहां स्वमार्गीय वैष्णव भक्तोंके लिये भी बाह्य तनुजा या वित्तजा सेवा करनेकी रीति पुष्टिमार्गमें कोई आवश्यक कर्तव्य सिद्ध नहीं होती.

ऐसी स्थितिमें इसे नियत कर्तव्यतया दिखलाना अनुयायिजनोंको कुपथपर चलनेको बगलाना है कि नहीं? भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा

का प्रचलित व्यावसायिक प्रदर्शन पुष्टिमार्गमें क्या न केवल अनावश्यक है अपितु मूल भगवत्प्राकट्यके सिद्धान्तके भी विपरीत होनेसे वर्जनीय ही होता है या नहीं? (ग) कोष्ठकगत श्रीगोपीनाथप्रभुचरणके वचन भी इसके उपोद्बलकतया ही सामने आते हैं. अन्यथा "गुरुदत्तां / स्वयं लब्धां" का विकल्प या तो अर्थहीन अनुज्ञा सिद्ध होगी या फिर इसका अन्य कुछ अभिप्राय खोजना पड़ेगा. (घ), (ङ) और (च) कोष्ठकगत श्रीहरिरायजीके तीनों वचनोंके आधारपर भी तथाकथित गुरुस्थानीय गोस्वामिवर्गके परार्थ सेव्य भगवत्स्वरूप और अनुयायिजनोंके स्वार्थ सेव्य भगवत्स्वरूपों के बीच किसी भी तरहका तारतम्य तो किसी भी तरह इंगित होता नहीं है.

अतः न तो महाप्रभु, न प्रभुचरण और न श्रीहरिरायजी के ही इन उद्धृत वचनोंको देखनेपर तथाकथित 'शिष्टाचार' या प्रचलित अन्धरूढि की कोई सैद्धान्तिक संगति प्रतीत होती है. सभी भगवत्स्वरूप समान ही हों तो अपने आराध्य भगवत्स्वरूपको छोड़ कर अन्यत्र दर्शनार्थ भजनार्थ प्रसादग्रहणार्थ अथवा निजद्रव्यविनियोगार्थ भटकना क्यों आवश्यक माना जाता है? ऐसी स्थितिमें गोस्वामिओंद्वारा सेवित भगवत्स्वरूपोंके दर्शनादि ही जब पुष्टिमार्गमें नियत कर्तव्यतया प्राप्त न होते हों तो "न स्वैरी स्वैरिणी कुतः?" न्यायेन गोस्वामिसेवित स्वरूपोंके दर्शन मनोरथ भेंट या सामग्री पुष्टिमार्गमें न केवल जलताडनवत् निष्प्रयोजन कृति अपितु मार्गविद्रोह भी क्यों न मान लेने चाहिये?

फिरभी विगत डेढ़सो-दो-सो वर्षोंमें पनपी ऐसी परम्पराके अनुसार ऐसा करना अनिवार्यतया माना जाता होनेसे संशय होना स्वाभाविक

लगता है.

(पूर्वपक्ष)

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले मुंबईमें) विमर्शकाराभिनन्दित चि.हरिरायजीद्वारा गृहीत पक्ष जैसा कि पहले कह आये है इस तरह था :

> "पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये जब सेव्य स्वरूप पधराया जाता है तो वह स्वार्थप्रतिष्ठा होती है; परन्तु, पुष्टिमार्गीय... गुरु जो सेवा करता है, वो सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ प्रतिष्ठा होती है. अर्थात् परार्थ भी होती है... (वैसे स्वरूपके यहां परार्थ भी होने पर भी स्वामित्व तो भगवत्स्वरूपपर गोस्वामी गुरुओंका ही होता है, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिये)".
>
> (विस्तृ.विव.पृ.१५९).

(उत्तरपक्ष)

क्योंकि गोस्वामी गुरुओंके मांथे बिराजते स्वरूपोंमें कुछ अपवादोंको छोड़कर अवशिष्ट भगवत्स्वरूप प्रायः वैष्णवोंके ही मांथे पधराये जानेके हेतु महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये गये थे; अतः, उस भावप्रतिष्ठाको यदि हम अक्षुण्ण मानते हो तो आज भी उन सारेके सारे स्वरूपोंकी स्वार्थ ही भावप्रतिष्ठा स्वीकारनी पड़ेगी. यदि महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप गोस्वामिगृहोंमें पुनः पधारनेके कारण स्वार्थ + परार्थ = उभयार्थ बन जाते हों तो वह महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा सम्पन्न उस भावप्रतिष्ठाको निवृत्त करके अथवा निवृत्त किया बिना ही? यदि निवृत्त करके तो वे भगवत्स्वरूप महाप्रभु-प्रभुचरणके निधिस्वरूप नहीं रह जायेंगे! यदि निवृत्त किये बिना तो स्वीकारना पड़ेगा कि महाप्रभु-प्रभुचरणकी तुलनामें उनके वंशजोंका सामर्थ्य अधिक है. क्योंकि महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा स्थापित धर्मको भी हमारे पू.पा.गोस्वामिबन्धु निवृत्त कर सकते हैं(!).

ऐसी स्थितिमें, परन्तु, क्योंकि प्रभुचरण अपने छठे लालजीको श्रीबालकृष्णलाल पधराना चाहते थे एतावता उनमें आज भी षष्ठत्व धर्म अक्षुण्ण माननेकी बात उपपन्न नहीं हो पायेगी! क्योंकि तीसरे घरमें बिराजनेके कारण सुरतिस्थ श्रीबालकृष्णलालजीमें तृतीयनिधित्व अथवा उपतृतीयनिधित्व ही प्रकट हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें महाप्रभुके कालमें जो श्रीनाथजीके सेवाप्रकारमें मंदिर तथा दर्शन का जो प्रावधान था वह भी अक्षुण्ण नही रह जायेगा. क्योंकि सतघरा (मथुरा) में प्रभुचरणके गृहमें पाट बिराजते ही वह प्रावधान निरस्त हो जायेगा! इसके अलावा श्रीनाथजीकी सेवामें बिना ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे बंगालिओंको साक्षात्स्वरूपसेवाका अधिकार था सो शिष्टाचारपरिपाटीके अनुरोधवश आज भी भगवत्सेवाधिकारार्थ पू.पा.गुसांईओंसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अनिवार्य नहीं रह जायेगी. ऐसी स्थितिमें पू.पा.गुसांईओं और पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंके बीच गुरु-शिष्यभाव भी अनिवार्य न रह जानेसे उस सम्बन्धसे वैष्णवद्रव्यांगीकार पुनः किशोरी बाईकी वार्ताविमर्शानुसार अवैध हो जायेगा!

वैसे जहां तक चि.महाकविद्वारा अंगीकृत पक्षोंका प्रश्न है तो उनकी बातें तो प्रायः ग्रन्थावबोधशून्य केवल काव्योत्प्रेक्षासदृश ही होती हैं. इस विषयमें किसी तरहके प्रमाणकी अपेक्षा हो तो चि.महाकविद्वारा विरचित *श्रीमद्भागवतभाषालक्षणम्* नामक ग्रन्थ, जिसमें ग्रन्थकारके निरंकुशकल्पनाकौशलके प्रदर्शनवश समाधिभाषाका लक्षण घोड़े-गधेमें भी अतिव्याप्त हो रहा है, उसमें स्वयं चि.महाकविके स्वयंके शब्दोंमें पुष्टिभक्त्याधारभूत समर्पणके बारेमें उनकी समझ देखने लायक है—

> ''यद्वा न्यायो अयं भङ्क्त्या व्युत्पाद्यते उत्सर्गो नाम दानम्, अर्थात् त्यागः, स्वेच्छया कृतइति. तथाहि जीवात्मा यदा स्वाभिन्नत्वेन देहेन्द्रियदाराऽऽगारपुत्राद्यवच्छेदकम् अहंताममता-रूपाविद्यावच्छिन्नं जीवत्वम् आत्मना सह भगवत्कृपया सर्वात्मभावेन भगवन्तं भजन् तच्चरणारविन्दयोः स्वसर्वस्वम् अन्तःकरणेन समर्पयति निर्गुणपुष्टिमार्गानुरोधात् तदा सएव

भगवदनुग्रहैकलभ्य उत्सर्गः इति ज्ञेयम्.''

(श्रीम.भाग.भा.ल.पू.सं.६४).

''ईश्वर अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान्!'' अब क्या कहना? 'उत्सर्ग' यानि दान और 'दान' यानि समर्पण! वैसे विवक्षित सन्दर्भमें स्वयं 'उत्सर्ग'पद श्रीमहाप्रभुद्वारा तो ''बलवद्बाधकापोहत्व'' रूप सामान्यशास्त्रके अभिप्रायवश ही प्रयुक्त है, जहां भङ्क्तन्तर सोचना भी स्वयंमें एक अकाण्डताण्डव ही है. फिरभी महाप्रभुको अभिलषित अभिप्रायके अनुसार लेनेमें महाकविको अपने बुद्धिकौशलके प्रदर्शनका अवकाश न मिलता हो तो इस पदका औत्सर्गिक अर्थ तो पुनः ''स्वानुयोगिकप्राप्तवस्तुप्रतियोगिकसम्बन्धविरहेच्छा'' रूप त्याग ही होता है. यह त्यागरूप उत्सर्ग, परन्तु, ससम्प्रदानक होनेपर ही दानार्थक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं. क्योंकि दान तो ''स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादानानुकूलः 'तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम' इत्यादिशब्दभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः'' रूप होता है, जो प्रत्येक उत्सर्गके उदाहरणमें अनिवार्य नहीं होता. जबकि 'समर्पण'/'निवेदन' पदोंका अर्थ तो ''तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलव्यापारः 'तुभ्यम् अहं समर्पयामि/निवेदयामि इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः''रूप होता है, यह श्रीपुरुषोत्तमजीने नवरत्नविवृतिप्रकाशमें सुस्पष्ट पृथक्करण दिखलाया ही है; फिरभी, महाकविकी मनोवृत्ति ''शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति...(महाकवयः!)'' उक्तिकी बरबस याद दिलाती है!

अब भला पूछा जाये कि *''(उत्सर्ग = दान) = समर्पण''* ऐसा समीकरण यहां प्रस्तुत करनेपर ''दाने हि न स्वत्वनिवृत्तिरेव नतु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्यात्'' (नव.र.प्रकां.१) इस प्रभुचरणके वचनकी क्या गति होगी? तो मान कर चलना पड़ेगा कि फिरसे कोई शाखाचंक्रमण करके *''तटस्थ मध्यस्थके सामने सारे स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकता हूं अन्यथा नहीं!''* ऐसा कुशकाशावलम्बन ही एक गति रह जायेगी! ''स्वभावो दुरतिक्रमः!''

"शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति" तो सुना था परन्तु "तत्र महाभ्रष्टाः कदाचिद् महाकवयोऽपि भवन्ति" तो हमारे महाकविद्वारा ही चरितार्थ हुवा है! यह तो निश्चय ही महाकल्पनाकौशलकी महासाहसिकताका महाप्रमाण है! अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ महाप्रभु या प्रभुचरण जब ठाकुरजी पधारते थे तो किसी व्यक्ति या परिवार के मांथे ही पधरते थे. इसमें, परन्तु, यह अवधेय है कि श्रीनाथजी और अन्य कुछ ऐसे भगवत्स्वरूप आपने किसी एकके मांथे पधारनेके बजाय देवालयविधिसे पधराये थे. अतः ऐसे भगवत्स्वरूपको सर्वजनोद्धारक माननेकी परिपाटी रही है. इसे ही तन्त्रशास्त्र 'परार्थप्रतिष्ठा' कहते हैं. ऐसे स्वरूपकी सेवाके गोपनकी आवश्यकता भी उपलब्ध नहीं होती. इस परार्थ-स्वार्थके अन्तरका निरूपण सुविशदतया द्वितीय प्रकरणमें हो ही चुका है. अतएव महाप्रभुका "...जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्में पुजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है" (८४ वैष्ण.वा.२४१) विधान भी तो वार्तासाहित्यमें उपलब्ध होता है.

यहां एक शंका उठ सकती है परार्थ प्रतिष्ठापित देवालयमें भी पुरुषोत्तमत्व तथा रसात्मकत्व तो स्वीकारना ही पड़ता है. अतः वहां भी भगवत्स्वरूपकी सेवाके प्रदर्शन करनेसे उसमें रसाभासता "गुप्तो ही रसो रसत्वम् आपद्यते — अगुप्तो रसो रसाभासः स्यात्" (सुबो.१०।१८।५ - १०।५९।४४) वचनोंके बलपर या तो स्वीकारनी पड़ेगी अथवा संगोपनकी अपरिहार्यता स्वीकारनी पड़ेगी. यों दोमेंसे कुछ एक तो स्वीकारना ही पड़ेगा.

यह विभीषिका, परन्तु, षोडशग्रन्थ तथा सुबोधिनी के अवलोकनसे वितृष्ण लोगोंके लिये कारागार बन सकती है अन्यथा नहीं. क्योंकि सर्वप्रथम तो "सेवाकृते: गुरोः आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया" (नव.७)

वचनके अनुसार यह गुर्वाज्ञाके अनुसरणका कल्प नहीं था परन्तु गुर्वाज्ञाके बाधनका कल्प था. अतएव सुबोधिनीके अनुसार कहना हो तो "अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसम् उत्पादयितुं शक्तः" (सुबो.१०।२९।१४) रीतिसे भगवान्के अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यका यह कल्प या निदर्शन भी हो सकता है. एतावता अन्यथाकर्तुम् असमर्थ जीवात्माओंको भक्ति जीवात्माओंके सहज धर्मकी तरह रसशास्त्रीय प्रक्रियाद्वारा निष्पन्न होनेवाला एक स्वतन्त्र रस भी है अतः सो सर्वत्र रसाभास — आजीविकोपार्जनार्थ भगत्सेवाके प्रदर्शनद्वारा भक्त्याभास अर्थात् भक्तिके दम्भ या पाखण्ड — = धर्माभासको सदैव्य प्रकट करनेकी या गुर्वाज्ञाके उल्लंघनकी अनुमति दी नहीं जा सकती! क्योंकि गुर्वाज्ञाका अनुसरण औत्सर्गिक कल्प है जबकि गुर्वाज्ञाके बाधनका कल्प आपवादिक कल्प.

यहीं चि.महाकविके कल्पनाकौशलवश प्रकटी भीतिसे एक ऐसी आशंका हृदयमें जाग सकती है कि कहीं यहां भी उसी *"भङ्क्त्वन्तरवशाद् उत्सर्गो = दानं, दानं = समर्पणं"* कल्पनाकौशलका प्रदर्शन कर गुर्वाज्ञाके औत्सर्गिक कल्पको भगवदाज्ञालब्ध कर्तव्यार्थ उसे देय अर्थात् समर्पणीय कहीं न मान लिया जाय!

वैसे यह एक वास्तविकता है कि आज उस आज्ञासिद्ध अपवादको हम आचारकी दुहाई देकर उत्सर्ग बना-मान कर चल रहे हैं. अतएव पूछा जा रहा है कि सूरदासजीने जैसे अपुष्टिमार्गीय अभक्त बनियाको आग्रहपूर्वक श्रीनाथजीके दर्शन करवाये थे; वैसे ही स्वगृहमें विराजमान भगवत्स्वरूपका भी प्रदर्शन अस्वभक्तोंको क्यों नहीं कराया जा सकता? अपुष्टिमार्गीय दर्शनार्थी, परन्तु, जब कभी यह कहेंगे कि श्रीनाथजीकी सेवामें गैरब्रह्मसम्बन्धी बंगाली भी जब नहा सकते थे तो हम क्यों नहीं नहा सकते? तब क्या जवाब देना? श्रीनाथजीकी निजेच्छावश उस समय अपवादके रूपमें जो कुछ करना पड़ा उसे औत्सर्गिक सिद्धान्तके रूपमें मान्य करनेपर आज हरेकृष्णवाले अमरीकीओंको क्यों

सेवामें नहाने नहीं दिया जाता? यदि कहा जाये कि हरेकृष्णवाले अमरीकिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा नहीं होती तथा "आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः न इतरे. अतो निवेदने भजनाधिकारः... द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशसंस्कारवत्" (नव.विवृ.१) वचनके आधारपर ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाके बिना सेवाधिकार सिद्ध नहीं होता होनेसे सेवा नहीं दी जाती. तो मीराबाई जैसे अस्वमार्गीय भक्तको दर्शन करवानेके उदाहरणके आधारपर अस्वमार्गीयके सामने कृष्णसेवाप्रदर्शनका औचित्य जैसे सिद्ध किया जा रहा है, वैसे ही बंगालिओंको साक्षात् स्वरूपसेवाकी अनुमतिके उदाहरणके आधारपर अब्रह्मसम्बन्धिओंको प्रदर्श्यमान कृष्णसेवाके व्यवसायमें भेंट-न्योछावर ले कर साक्षात् स्वरूपसेवाकी अनुमति क्यों नहीं दी जाती? बंगालिओंको बिना ब्रह्मसम्बन्धके श्रीनाथजीकी साक्षात् सेवाका शिष्टाचार महाप्रभुके समयसे प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी के काल तक तो था ही. उसके आधारपर ब्रह्मसम्बन्धिबुद्धया साक्षात् सेवाकी अनुमति प्रदान करनेमें कोई भी दोष हो नहीं सकता. अतः ब्रह्मसम्बन्धिओंको भी भक्तबुद्धया साक्षात् सेवानुमति प्रदान करनेमें कोई दोष, कमसे कम विमर्शकारकी विचारनीतिके अनुसार होना तो नहीं चाहिये (द्र. : विम.पृ.२०५).

बतर्ज पु.सि.सं.शि.चि.महाकवि —

"श्रीनाथजीकी सेवा जो प्रकट करी उसमें मन्दिरसेवा और अब्रह्मसम्बन्धी बंगालिओंको साक्षात् स्वरूपसेवाधिकारका प्रावधान था. उस समय अब्रह्मसम्बन्धिओंके सेवाधिकारको सिद्धान्ततः स्वीकार लिया गया था!".

परन्तु ऐसी छलनाभरी बातोंमें मूल हेतु यही दिखलायी देता है कि वल्लभवंशजत्व पुरुषोत्तमसेवारूपव्यवसायप्रदर्शकत्व देवलकत्व पुरुषोत्तमत्व अपठितत्व अपाठकत्व दोराधागा-ताबीज-मन्त्र-झाडफूंककारित्व प्रसादविक्रेतृत्व व्यावसायिकव्रजयात्रानायकत्व वैदिककर्मयजमानत्व आदि जिन-जिन

उपाधिओंसे द्रव्य मिलता हो उसे कथंचित् बटोरते ही रहना हम गोस्वामिओंको अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य प्रतीत होता है! अतएव गो. बालकको भेंट करके व्यावसायिक सार्वजनिक मन्दिर भी चलाया जा सकता है परन्तु गो.बालकसे ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना, गो.बालकसेपुष्ट कराये बिना कोई भगवत्सेवा भी नहीं कर सकता! इस तरहकी स्वार्थपूर्ण नीतिमें कितनी सैद्धान्तिक भक्तिभावना और कितनी व्यापारिक एकाधिकारितासे भरी दुर्मनोवृत्तिवाली द्रव्यलालसा काम कर रही है, यह आजकी तारीखमें कोई गुप्त कथा नहीं रह गई है! अतएव शास्त्री तथा वैष्णव भी अब सार्वजनिक हवेली खोलने लगे हैं. उन मन्दिरोंमें गुरुकी आज्ञाके बिना भी मनोरथ करवाने लगे हैं. गुरुद्वार बिना ही मूर्तिको पुष्ट भी करवाने लगे हैं. भागवतकथाव्यास भी अब ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देने लगे हैं और वैष्णवगण लेने भी लग गये हैं. यह खुल्लम्-खुल्ली उपेक्षा गोस्वामिवर्गकी जो होने लगी है, क्या यह हमारी सिद्धान्तनिष्ठाविहीनताके प्रति सर्वथा और सर्वथा उचित ही प्रतिभाव प्रतीत नहीं होता! सिद्धान्ततः यह अनुचित होना चाहिये था परन्तु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" न्यायसे तो उचित ही लगता है.

अतएव "तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्" वचनमें गुरुलक्षणरहित निजवंशजोंद्वारा दी जाती दीक्षाकी या की जाती स्वरूपप्रतिष्ठाकी या सेवाकी आज्ञा आदिकी अपरिहार्यता निरस्त की ही गई है. श्रीपुरुषोत्तमजी भी इस भगवत्सेवामें स्वतःप्रवृत्तिको धर्माभास या मूढता नहीं मानते. विमर्शकार तो अपने-आपको श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुगामीके रूपमें दरसाते हैं. अतः इसे इन्कार भी नहीं पायेंगे, चि.महाकवि तो प्रभुचरणके भी वचनोंके प्रामाण्य मानने भी बंधे हुवे नहीं और न अपने स्वयंके पितृचरणके तो बिचारे श्रीपुरुषोत्तमजीकी तो बिसात ही क्या? यह तो कर्तव्यविचारणाप्रयुक्त निरूपण हुवा.

तत्त्वविचारणाकी दृष्टिसे भी पुरुषोत्तमभजनकी स्वधर्मरूपता व्रजभक्तोंके

भावोंके अनुसरणद्वारा ही उपदिष्ट हुयी है. व्रजभक्तोंके रसात्मक भावोंका पात्रस्थानीय अर्थात् आलम्बन विभावात्मक स्वरूप यथायथ अवतारलीलामें कभी शुद्धसत्त्वात्मक वासुदेव व्यूह होता है अथवा कभी लोकवेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम.*

उन व्रजभक्तोंके भावोंकी हृदयमें निरन्तर चलती भावनाके कारण श्रीमदाचार्यचरणके हृदयमें भी तद्भावात्मक भगवान् सर्वदा बिराजमान रहते हैं. इन महाप्रभुहृदयस्थितभावात्मक स्वरूपकी हृदयमें भावना करके जब भगवत्मूर्तिके अंगप्रत्यंगमें भावन्यास किसा जाता है तब वह भगवन्मूर्ति उस भावकी पात्रस्थानीय आलंबनविभाव बनती है. उसमें साक्षात् रसात्मक पुरुषोत्तमकी भावना रखते हुवे जब शृंगारादि सेवा और सेवाके अनवसरमें व्रजलीलाके अनुभावन द्वारा सेवा-स्मरण करनेवालाका भाव बँधना शुरु होता है. तब वह भगवत्स्वरूप सेवा-स्मरण करनेवाले भक्तके भी बाह्याभ्यन्तरमें आलम्बनविभावात्मक तथा स्थायिभावात्मक स्वरूप धारण कर विभिन्न रसानुभावोंको प्रकट करने लग जाता है. अर्थात् सेवा-स्मरणकर्ताको भगवान् उसके भावोंसे भावित होते हुवे निजनिरुद्ध बना लेते हैं. इसीका निरूपण श्रीहरिरायचरणने "भक्तिमार्गे स्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्" (स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार).

इस ग्रन्थके प्रारम्भकी भी कुछ कारिकायें, अतएव, इस विषयपर प्रकाश डालती हैं :

प्रार्थयित्वा निजाचार्यान् ध्यात्वा तद्हृदयस्थितम्।
भावात्मकं प्रभो रूपं सर्वलीलायुतं सदा॥
.....।
रक्षामिषेण विहितं भावात्मस्थापनं प्रभौ॥

*द्रष्टव्य : "ननु प्रभोः रसात्मनः आलम्बनाभावे कथं प्राकट्यः सम्भवः इति चेद् वासुदेवव्यूहस्य शुद्धसत्त्वात्मकस्य अत्र प्रकटितस्य तत्स्थायित्वात्" (भगवत्प्रादुर्भावसिद्धान्तः).

स्वाचार्यसंश्रितैः तद्वन् मूर्तावपि हरिस्थितिः।
इदमेवोक्तम् आचार्यैः भक्तिमार्गप्रकारतः॥
'तत्र च स्थित'मित्यादि स भावात्मा हरिः स्मृतः।
(स्व.मा.स्वरू.स्थाप.प्रका.५-९)

अतएव जबतक कोई व्रजभक्तोंके तथा महाप्रभुके भावात्मक प्रभुको निजभावनासे भावित नहीं कर पाता तब तक भगवन्मूर्ति न्यूनातिन्यून भगवदाकारविशिष्ट ब्रह्मसंदेश केवल होती है अथवा अधिकमें अधिक सच्चिदानन्दात्मक पूर्णपुरुषोत्तम भक्तिभावालम्बनरूप पात्रस्थानीय भगवन्मूर्ति. वह रसात्मक पुष्टिपुरुषोत्तमतया प्रकट तो किसी व्यक्तिविशेषकी व्रजभावों तथा पुष्टिमार्गीय भावोंकी भावनासे भावित होनेपर ही हो पाती है.

यहां "मल्लानामशनि"(भाग.१०।४३।१८)न्यायानुसार तत्तद् दर्शनार्थिओंके तत्तद् भावानुरोधवश तत्तद्रसात्मिका भगवन्मूर्तिके दर्शनका कल्प परार्थ देवालस्थ भगवत्स्वरूपके बारेमें सोचा जा सकता है, "कृत्वा तावन्तम् आत्मानम्"(भाग.१०।३०।२०)न्यायानुसार स्वगृहाधिष्ठित स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपके सेवनका कल्प समजना चाहिये. ऐसे स्वगृहाधिष्ठित रसात्मक स्वरूपकी रसात्मकलीलानुभावनात्मक भजन यदि सर्वजनतामें प्रदर्शनार्थ हो तो सर्वत्र परार्थ देवालय ही होनेमें बुराई क्या थी? प्रत्येक वैष्णव मोहल्ला गांव नगरमें एक-एक सार्वजनिक परार्थ पुष्टिमार्गीय देवालयमें "मल्लानामशनि"न्यायसे अपने-अपने घरसे आकर गोस्वामी भी सेवा क्यों नहीं कर लेते, जैसे दर्शनार्थी वैष्णव जनतासे वे अपने अर्थसंचयकी दुर्ललितासावश अपेक्षा रखते हैं? इसमें आपत्ति हम क्या गोस्वामिओंको क्या हो सकती है? रोजी-रोटीके सवालका तो हल ऐसे परार्थ देवालयोंमें पौराहित्यकी दक्षिणासे भी हो ही सकता था! इसमें देवलकताके कलंकसे भी बचा जा सकता था!

अतः सिद्ध होता है कि स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप अस्वीय भक्तोंके समक्ष तो अप्रदर्शनीय ही होता है. अन्यथा रसाभासताका दोष दुरुद्धर ही रहेगा. "कृत्वा तावन्तमात्मानं"कल्पमें प्रत्येक कुमारिकाद्वारा

व्यक्तिशः अनुष्ठित व्रत एवं प्रार्थना को तावद्भावापत्तिमें निमित्त माना गया है. यदि प्रत्येकको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा दिलवायी जाती है उसे कुमारिकाओंके व्रतस्थानीय मानें तो तावद्भावापन्न प्रभुके स्वरूप ही सेवनीय होते हैं. तब अन्यके समक्ष प्रदर्शनका प्रश्न कैसे उठ सकता है? ''यूथाधिपतियूथ''न्यायके अनुसार स्वयूथके अर्थात् स्वीयभक्तोंको ही अपनी सेवाके दर्शनानुष्ठानमें परिचारक सहभागी बनाया जा सकता है.

विमर्शकार कहते है -

''स्वमार्गीय वैष्णवको छोड़ कर अन्य किसीको भी अपने श्रीठाकुरजीका दर्शन नहीं कराना चाहिये ऐसा यदि उस *'अपने श्रीठाकुरजीके दरसन अन्यामार्गीकों न करावने'* भावप्रकाशवाक्यका तात्पर्यार्थ है तो प्रश्न आता है कि मीराबाईको श्रीनाथजीका दर्शन श्रीगुसांईजीने कैसे कराया? गोविन्ददास खवासको नामनिवेदनके पूर्व श्रीगुसांईजीने दर्शन कैसे कराया? सूरदासजीने उस बनियाको श्रीनाथजीका दरसन कैसे कराया? अतः 'स्वमार्गीय वैष्णवको छोड़ अन्य किसीको भी अपने श्रीठाकुरजीका दर्शन नहीं कराना चाहिये' यह भावप्रकाशवाक्यका तात्पर्यार्थ है ऐसा नहीं स्वीकारा जा सकता अपितु 'जो भगवद्भक्त नहीं हैं ऐसे अन्यमार्गीयोंको भगवद्भक्त ये नहीं है यह जानते हुवे बुद्धिपूर्वक भगवान्का दर्शन कराना निषिद्ध है' इतना ही इस वाक्यका तात्पर्यार्थ है. यह स्वीकारना पड़ता है. उज्जैनिके पास रहनेवाली ब्राह्मणीने वह शावत भगवान्का दर्शन करना चाहता है तो भगवद्भक्त ही होगा यह समझ कर यदि उसे भगवान्का दर्शन कराया होता तो कृष्णभट्ट यह न कहते कि *'हमारे श्रीठाकुरजी बनजव्यापार करत नाहीं जो ऐसे लोगन्कों दिखाइये... और वे लोग ऐसी भांति वैष्णव जानि अहसान करें तो वैष्णवता बिकानी'* इस वाक्यका तात्पर्यार्थ यह है कि भगवद्भक्त यदि

होगा तो वह भक्तिभावसे प्रभुका दर्शन करेगा और उसमें अपना अहोभाग्य समझेगा. अपने ऊपर दर्शन करनेवालेने अनुग्रह किया यह समझेगा. अभक्त जब भगवान्का दर्शन करने जाता है तब वह जिस प्रकार संग्रहालय(म्यज़िअम्)में रखी हुई वस्तुको देखने लोग जाते हैं उसी प्रकार केवल भगवान्की मूर्ति(स्वरूप)को देखने जाता है.''

(विम.पृ.२०५).

प्रश्न तो इस कुविमर्शको पढ़ कर अनेक मेरे मनमें भी उठ रहें हैं कि हम पू.पा.गोस्वामी जब अपनी व्यावसायिक सेवाका प्रदर्शन अपने सेव्यस्वरूपके दर्शन खोल कर कराते हैं तब क्या इतनी भी सावधानी बरतते हैं? उज्जयनीकी ब्राह्मणीसे तो उस शाक्त अफसरने स्वयं दर्शन करनेको कहा था, तभी उस बेचारी ब्राह्मणीने दर्शन कराये थे! क्योंकि दर्शनकी मना करनेपर अपनी आयके एकमात्र स्रोतरूप अपने खेतके नाप-जोखमें वह शाक्त अफसर कोई गड़बड़ी न कर दे! इस तरह हमें भी कोई सरकारी अफसर हमारी समृद्धि हमारे भगवत्सेवाव्यवसायके कारण जुटी है या कोई अवैध स्मगलिंग् आदि उपायोंके द्वारा ऐसा जाननेके हेतुवश दर्शन करानेको कहे तब तो हम भी दर्शन करा दें तो वह क्षम्य हो सकता था. अन्यथा अकारण क्यों दर्शन कराने चाहिये? यदि दर्शनार्थके उद्धारार्थ कदा सकते हैं तो उस ब्राह्मणीने भी ऐसी भावनाके वश न कराये हों, इसमे प्रमाण क्या? स्वयं अपनी ओरसे चला कर अपने पेट भरनेको हम पू.पा.गोस्वामिओंकी तरह पॅम्फ्लेट्स् छपा कर, अखबारोंमें विज्ञापन प्राकशित करवा कर; अथवा, समाधानी भेज कर तो शाक्त अफसरको दर्शनार्थ आनेको ब्राह्मणीने ललचाया नहीं था. हर सूरतमे कमसे कम 'विमर्श' सदृश ग्रन्थ प्रकाशित कर अपनी वित्तैषणा और लोकैषणा को सिद्धान्त होनेका मुखोटा तो उस बेचारी ब्राह्मणीने सर्वथा नहीं पहनाया था. तिसपर भी कृष्णभट्टने उसे यह कह दिया ''हमारे श्रीठाकुरजी बनज-व्यौपार करत नाहीं हैं जो ऐसे लोगन्को दिखाइये. और वे लोग वैष्णव जानी अहसान करें तो वैष्णवता बिकानी!'' तो हमारे बारेमें कृष्णभट्ट

केवल सम्पत्तिमात्रकी सुरक्षाके हेतु कितनी अधिक दुर्मनोवृत्तिके विवश स्वयं हमने चला कर अपने घरोंको पब्लिकट्रस्टतया घोषित या रजिस्टर करवा दिया है, उसकी भी वक़ालत करनेको स्वधर्माभिमानकी सारी मर्यादाओंका उल्लंघन करते हुवे विमर्शकार कहते हैं—

> "संकटकालीन व्यवस्थाके रूपमें (जहां) ट्रस्टका बाह्यस्वरूप मात्र वहां दिया गया हो (वहां) वस्तुतः ट्रस्ट (होता) है ही नहीं. भले ही ट्रस्टका लेखन क्यों न कर दिया हो... यहां यह विचारणीय है कि भगवत्सेवोपयुक्त सम्पत्तिके संरक्षणार्थ जहां ट्रस्टका स्थापक बाह्यरूपमें ट्रस्टकी रचना करे तथा मनसे ट्रस्टकी स्थापना न करे ऐसे स्थलमें ट्रस्टके स्थापकको अनृतभाषणका लगेगा या नहीं? जब *'स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्यर्थे प्राणसंकटे गवमर्थे ब्राह्मणार्थे नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्'* इन कार्योंके लिए अनृतभाषणको दोषावह नहीं माना जाता है तो भगवत्सेवार्थ आवश्यक होनेपर वैसी लौकिक युक्ति किसीने की हो तो उसे दोषदृष्टिसे नहीं देखा जा सकता."
>
> (विम.पृ.६६).

ऐसे स्थितिमें उज्जयनीकी ब्राह्मणीने भी वृत्यर्थ अथवा भगवत्सेवोपयोगी सम्पत्तिके संरक्षणकी ही केवल भावनासे दर्शन करा भी दिये हों तो हम पू.पा.गुसांईओंकी तुलनामें तो वह अधिक क्षम्य लगती है! यदि कहा जाये कि उसके यहांसे ठाकुरजी तिरोहित हो गये जबकि हमारे यहां तो बिराज रहे हैं, अतः उसकी अधिक अक्षम्यता फलबलकल्प्या है और हमारी क्षम्यता भी तो यह भी सोचा जा सकता है कि उसके अपराध प्रभुने बुरा माना इतना उस ब्राह्मणीको प्रभु अपना समझते होंगे जबकि हमारे अपराध प्रभुको बुरा ही नहीं लगता होगा क्योंकि हमें प्रभु सर्वथा प्रवाही या दुर्जु आसुरी जीव ही मानते होंगे! मथुरास्थित श्रीकृष्णजन्मभूमिस्थित भगवद्विग्रहभञ्जक महम्मद गज़नवीके

द्वारा खण्डित किये जानेपर भगवद्विग्रह खण्डित हो गया तद्वत्!

स्वयं विमर्शकारने श्रीमत्प्रभुचरणके पत्रोंसे "अन्यच्च यवनादयो भगवद्द्वारे आगच्छन्ति, तदा यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यं यद्यपि हार्दं न भवति तथापि बाह्यतोऽपि कार्यम्" (विम.पृ.६७) यह जो वाक्यांश उद्धृत किया है उसके आधारपर ही उस ब्राह्मणीने भी दर्शन कराये होंगे ऐसा क्यों विमर्शकार नहीं कह पाते? अस्वमार्गीयताके रूपमें, यवन अफसर और शाक्त अफसर के बीच अन्तर क्या हो सकता है? अतः सिद्ध होता है कि भगवत्स्वरूपसेवाके निर्विघ्ननिर्वाहार्थ सरकारी अफसरोंको निरीक्षणार्थ आने देना दर्शन करने देना दोषरूप न होनेपर भी उनसे सम्पत्तिकी सुरक्षा या प्राप्ति के हेतु दर्शन कराना अवश्य दोषरूप होता होगा.

ऐसी स्थितिमें चला कर अपनी ओरसे गामको आमंत्रित करना और फिर आमंत्रितोंमें कौन भक्तिभावश दर्शन करने घुस रहा है और कौन म्युज़िअमकी तरह हमारे घरोंमें भी अनुष्ठीयमान भगवदाराधनको केवल कौतुकवश ताक-झांक करने आ रहा है उसकी भी लेशमात्र सावधानी या विवेक रखे बिना, जो घुस रहा है वह भगवदीय होगा ऐसे सोच लेना "प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्" (भाग.पुरा.१।१।२) भागवतधर्मके बजाय हमारे घरोंमें कैतवपूर्ण भक्तिके नग्नताण्डवकी गवाही क्या नहीं देता?

अपने आराध्यके दर्शन कराते रहनेसे अपने ठाकुरजीकी सेवाके लिये विविध नामोंको घड़कर द्रव्य ऐंठना तो शुद्धदेवलकता नहीं तो और क्या हो सकती है? सेवार्थ आजीविका और देवलकता आदिकी विस्तृत मीमांसा तो अपनी विशोधनिकाके प्रथम और द्वितीय भागोंमें हम कर ही चुके हैं. यद्यपि विमर्शकारको भेंटके रूपमें जब वे पुस्तिकायें भेजी थी तब विमर्शकारने रुष्ट हो कर कहा था कि

"हम भी विशोधनिका-अशुद्धिप्रदर्शन प्रकाशित करवा देंगे" परन्तु मेरे दुर्भाग्यवश वह या तो लिखी ही नहीं जा सकी है या प्रकाशित नहीं हो पायी! वैसे प्रकाशनार्थ मेरे सहयोगकी अपेक्षा हो तो विमर्शकार निःसंकोच मुझे सूचित करें उसे प्रकाशित करानेको जो भी सहयोग मुझसे बन पड़ेगा देनेकेलिये सदा सन्नद्ध हूं. एक बार परीक्षा ही ले कर क्यों देख नहीं लेते! मैं अतीव उनका उपकृत होऊंगा! अपनी अशुद्धि समझ आनेपर स्वीकारने भी सदा सन्नद्ध हूं, इतना तो अपनी ओरसे आश्वासन देता ही हूं!

अस्तु, यदि हम पू.पा.गुसांई लोग धर्मनिरपेक्ष सरकारको बेवकूफ बनानेको निजीको सार्वजनिकतया घोषित एवं सरकारी विभागोंमें दर्ज करानेपर भी झूंट बोलनेके दोषी नहीं होते तो उस उज्जयनीकी ब्राह्मणीने भी झूंटे ही उसकी प्रशंसा न की हो ऐसा क्यों नहीं मानना चाहिये? उसके पक्षमें एक प्रबल अन्यथानुपपत्ति यह भी सोची जा सकती है कि उसे तो श्रीनाथजीके वस्त्रोंकी सेवामात्र करनेसे "सो वह बाई अति प्रीतिसों श्रीनाथजीकी सेवा करती... तब वा बाईसों श्रीनाथजी सानुभावता जनावन लागे त्यों-त्यों वह बाई मन लगायके सेवा करन लागी. पाछें वा बाईसों श्रीनाथजी प्रत्यच्छ बात करन लागे. वा बाईके पासें जो वस्तु चहिये सो माँगि लैन लागे!" (२५२ वैष्ण.वा.३८।९) इतनी उच्चाधिकारिता निरूपित हुयी है. मुझे नहीं लगता ग्रामोद्धारार्थ भगवत्सेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन करनेवाले हम पू.पा.गुसांईओंसे हमारे साक्षात् सेव्यस्वरूप कभी सानुभाव जता कर ऐसी प्रसन्नतासे हमारी सेवा स्वीकारते हों.

निष्कर्षतया विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीगोकुलनाथजीके तीनों वचनामृतोंमें लीलाभाव[क], शरण-निवेदन-भक्ति-मार्गीय मन्त्रों[ख], भगवत्सेवा[ग] तथा निजधर्म[घ] आदि अनेक बातोंके गोपनकी आज्ञा दे रहे हैं, उन सभी आज्ञाओंको अभिहितार्थ प्रमाण माननेके बजाय लक्षितार्थ या

गौणार्थ के अभिप्रायान्तरोंसे उनकी अन्यथाव्याख्या करना तो महाप्रभुकी शास्त्रव्याख्याननीतिके सर्वथा विपरीत ही है. यथा—

> (१)लीलाको भाव[क] अन्यमार्गीयोंकों तथा पात्र बिना न कहेनो. पुष्टिमार्गमें अनन्य होय ताकों मिलिके निवेदन[ख]को तथा अष्टाक्षर-पञ्चाक्षर[ख] तिनकों प्रकाश जहां-तहां पात्र बिना न करनो.(११)
>
> (२)भगवत्सेवा[ग] है सो गोप्य है सो काहूकों जतावे नहीं.जो सेवा प्रकट करि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ताको 'पाखंडी' कहिये सो ताकि सेवामें कछु पुष्टिमार्गको फल नाहीं. और पाखंड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवें सो लौकिक आवेशतें बहिर्मुख होय. और सेवामें प्रतिबंध परे. सो जब लोभ छूटे तब पाखंड न होय... तातें सेवा थोरी ही करे यथाशक्ति करे. ताको कछु बाधक नाहीं. सो थोरे ही भगवद्धर्मसों वाके सघरे कार्य सिद्ध होय जाँय और बहुत करे और पाखंड सहित होय तो भगवद्धर्म न बढ़े. तातें अलौकिक रीतसों सेवा करे सो श्रीठाकुरजीके जानिवेसूं कार्य सिद्ध होयगे जो लोगनके जानेतें कछु सिद्ध होय नहीं."(२२)
>
> (३)और पुष्टिमार्गमें शरण आवे ताकों अपनो सु(स्व)जाति जाननो. शरण बिना विजाति जानिए उनसों अपनो धर्म[घ] गोप्य राखे."(२४)

विमर्शकार कहते हैं इन वचनोंका अर्थ भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा के प्रदर्शननिषेधके रूपमें लेनेके बजाय "अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिए भगवत्सेवाका प्रचार नहीं करना चाहिये. अर्थात् अपनी प्रतिष्ठा हो इसकेलिए लोगोंको यह कहना कि *'हमारे यहां ऐसी भगवत्सेवा होती है'* यह सब ठीक नहीं. अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिए भगवद्दर्शन कराना उचित नहीं अपितु(!? सम्भवतः 'किन्तु' पद होना चाहिये था! 'अन्यथा

अपनी प्रतिष्ठा बढ़े और दूसरोंका उद्धार भी हो जाये' ऐसे हृद्गत निगूढ़ अभिप्रायका रहस्य यहीं प्रकट हो जायेगा! महान् मनोविद् फ्रॉयड ऐसी त्रुटिओंकी मनोमीमांसा अचेतनमन या बीजभाव का सचेतनमनद्वारा सम्पन्न होते विचार और वाणी के साथ किये जाते खिलवाड़के रूपमें करते हैं. गो.श्या.म.) लोगोंका उद्धार हो इसकेलिए भगवद्दर्शन कराना उचित है" (विम.पृ.सं.२००).

हम, परन्तु, इस सन्दर्भमें विमर्शकारका ध्यान छड़े वचनामृतपर आकृष्ट करना चाहेंगे कि जहां श्रीगोकुलनाथजी सुस्पष्ट शब्दोंमें "सेवा, भगवत्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. और काहुकों दिखायवेके अर्थ, पूजार्थ, उद्धारार्थ न करे. आपनो सहजधर्म जानें जैसे ब्राह्मण गायत्री जपे(वैसे हम गुसांईबालक तो वह भी वैष्णवोंके सामने करना ही पसन्द करते हैं!) **यथालाभसन्तोषसूं सेवा करे... और पाखंडीकी पूजा-सेवा प्रभु अंगीकार न करें**" (वचनामृत : ६).

सुस्पष्टतम 'शब्दोंमें श्रीगोकुलनाथजी यहां दिखानेकेलिये की जाती सेवाकी तरह उद्धारार्थ की जाती सेवा को पाखंडतया गिना दिया है.

वैसे विमर्शकारकी व्याख्यानीतिका अनुसरण करनेपर कल कोई ऐसा भी अर्थ कर ही सकेगा : "फलार्थ भोगार्थ अथवा प्रतिष्ठाप्रसिद्ध्यर्थ भगवत्सेवाका पाषण्ड भी अहंकारपूर्वक नहीं करना चाहिये परन्तु *'चित्तेन दुष्टो वचसापि दुष्टः कायेन दुष्टः क्रिययापि दुष्टः ज्ञानेन दुष्टो भजनेन दुष्टो ममापराधः कतिधा विचार्य'* का दैन्यभाव रखते हुवे भगवत्सेवाका पाखंड करना भी दोषरूप नहीं माना जा सकता है. क्योंकि अन्यथा ऐसे दैन्यभावोद्बोधक श्लोककर्तापर मिथ्याभाषणका आरोप लग जायेगा! एतावता सिद्ध होता है श्लोककर्ता यदि मिथ्याभाषी नहीं हो सकते तो सकल शिष्टोंमें भी ऐसे दोष तो थे ही. सो दोष होना दोष नहीं परन्तु हृदयमें दैन्य न होना दोषरूप होता है!"

अतः यह सिद्ध होता है कि 'विमर्श' "स्त्रीषु नर्मविवाहेषु

वृत्त्यर्थं प्राणसङ्कटे गवामर्थे ब्राह्मणार्थे नानृतं स्याद् जुगुप्सितम्" (द्र.विम.पृ.सं.१६७) श्लोकानुप्रेरित हो कर वृत्त्यर्थ गवांस्वाम्यर्थ वित्तसंग्रहको प्राणोपम पवित्र मान कर प्राणसङ्कटनिवृत्त्यर्थ अजुगुप्सितया अभीष्ट अनृतभाषणात्मक लेखन ही है. अस्तु.

संग्रहकारिका

भावात्मको हि भगवान् भावो भगवदात्मकः ॥
स्वीयानां धर्मरूपोऽपि "भजनीयो व्रजाधिपः" ॥१॥
श्रीमदाचार्यवचनाद् गोप्याश्चैते त्रयः सदा ॥
रसात्मकतया पुष्टौ स्याद्रसाभासतान्यथा ॥२॥
तस्माद्रसत्वे गोप्यत्वापत्तिरस्ति दुरुद्धरा ॥
नोचेद्रसाभासतैव प्रदर्शनकृता भवेत् ॥३॥

किञ्च

अङ्गीकृतातु भावस्य गोप्यता रसतापि च ॥
धर्मस्य धर्मिणो वापि तथात्वे द्वेषिता कुतः ?॥४॥
"एकत्र तु विनिर्णीतः शास्त्रार्थोऽसति बाधके ॥
युज्यते हीतरत्रापि" न्यायबाधो नवा कुतः ? ॥५॥

तस्माद्

रसरूपे भक्तिमार्गे रसाभासप्रदर्शकान् ॥
दुर्ज्ञान् देवलकान् धिक् तान् धिगेव तान् ॥६॥

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्यामनखोरेण विरचिता
'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गतसंकलित विषयवाक्यविचारे
'विमर्श' विशोधनिका

'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

(विषयवाक्य)

(क)भगवद्भावस्य स्सात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्व-भावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति एतदाशयेन ते धर्माः उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समम् अन्वयं = सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी. एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिः आविष्करणं भवति, प्राकट्येतु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम् (अणुभा. ३।४।४९).

(क)भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोंकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोंका भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भावोंका बाहर आविष्करण = प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभा. ३।४।४९).

(ख)स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत् (साध. दीपि. १०८).

(ख)जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये (साध. दीपि. १०८).

(ग)३८ तमो अपराधो = गुरुदैवतयोः गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्ववोनित्रयम्. ११ अपराधो = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं = वार्षिकसेवानिष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्. ३६ तमो अपराधो = भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम् = उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चगुणितनैवेद्यदानम्. ३५ तमो अपराधो = गुर्वाज्ञोल्लङ्घनम्. फलम् = असिपत्रादि-घोर-नरक-पातः. प्रायश्चित्तं = वैष्णव-गुरु-प्रसादनम्. (श्रीहरिराय-विरचिताः षट्षष्ठिरपराधाः तत्फलानि प्रायश्चित्तानि च).

(ग)३८ वां अपराध : गुरु या दैवत(=श्रीठाकुरजीसे सम्बन्धी बातों)के गुप्त-रहस्य-को प्रकट करना. फल : तीन जन्मों तक श्वाननयोनि. ११ वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृतसे स्नान कराना. ३६ वां अपराध : श्रीठाकुरजीके नामसे (भेंट, सामग्री या न्योछावर) मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांच गुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं कि समर्पण !) करना. ३५ वां अपराध : गुरु - श्रीमहाप्रभु - आदि - की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल : 'असिपत्रा'दि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित्त : वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि. विर. षट्.).

(संशय)

इन विषयवाक्योंके स्वारसिक अर्थकी मीमांसामें सर्वप्रथम संशय यह उठता है कि [१]अप्रदर्शनार्ह अर्थात् संगोपनीय केवल भक्त या भक्त्यर्थी सेवाकर्ताके भगवद्विषयकभाव ही होते हैं या [२]सेव्य भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा भी ? भगवद्भावकी तरह सेव्य भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा के भी संगोपनीय होनेपर क्या [२/क]'अस्वीयत्व + अभक्तत्व + अवैष्णवत्व' तीनों ही एक साथ जिसमें हो ऐसे व्यक्तिसे गोपनीय होते हैं अथवा

(२/ख)'अस्वीयत्व / अभक्तत्व / अवैष्णवत्व' तीनोंमेंसे कोई एक भी जिसमें हो उससे संगोपनीय होते हैं? अथवा (२/ग)न अस्वीयसे न अभक्तसे अथवा न अवैष्णव से ही किन्तु जिस व्यक्तिके बारेमें हमारी धारणा उसके अस्वीय-अभक्त-अवैष्णव होनेकी हो, उसे केवल दर्शन नहीं कराये जा सकते हैं? वैसे तो इस तीसरे कल्पमें भी पूर्वोक्त कल्पोंकी दोनों कोटियोंके विन्यासके कारण पुनः संशयघटक दो अवान्तर कोटियां उभर सकती हैं.

फिरभी संशयघटक इतनी सारी कोटियोंके रहते विमर्शकारने (१) केवल भावको ही संगोपनीय माना है, भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा को नहीं. 'स्वीय', 'भक्त' एवं 'अवैष्णव' पदोंकी 'स्वीयत्वबुद्धि', 'भक्तत्वबुद्धि' एवं 'अवैष्णवत्वबुद्धि' रूपी अर्थोंमें लक्षणा मान कर उन्हें प्रदर्शनानुकूल दर्शनाधिकारिता या अनधिकारिता का अवच्छेदक माना है.

व्यामोहिका भाषाका प्रयोग तो विमर्शकारका विभावानुभावसंचारिभाव-निष्पन्न स्थायिभाव होनेके कारण यदि इस पूर्वपक्षके निरूपणमें मुझसे कुछ निर्मूल निरूपण हो रहा हो तो सहृदय पाठक क्षमा करेंगे. यह बुद्धिपूर्वक अन्यथाव्याख्यान नहीं है परन्तु यथावभात व्याख्यान है. मैंने अपनी ओरसे केवल पूर्वपक्षके उड्डंकनका प्रयास किया है, फिरभी संशयकी तीसरी कोटिके अन्तर्गत अवान्तर कोटियां कौनसी विमर्शकारको अभिप्रेत होनी चाहिये, यह अपने नैसर्गिक बुद्धिसामर्थ्यसे निर्धारित नहीं कर पाया हूं.

इस स्थितिमें इतना तो स्पष्ट ही है कि संशयकी अनेक कोटियोंमेंसे विमर्शकारद्वारा इंगित दिशामें ही अग्रसर हो कर पूर्वपक्षकी जो कोटि उभरती हो उसके समाधानार्थ प्रयास करना चाहिये. अन्यथा अनुक्तोपालंभनकी त्रुटि हो सकती है. अतः अन्य कोटियोंकी हम उपेक्षा करना चाहेंगे.

(पूर्वपक्ष)

अतः सर्वप्रथम विमर्शकारद्वारा निरूपित मुख्य कोटि कि केवल भगवद्भाव ही संगोपनीय होता है भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा नहीं, इसे विमर्शकारके शब्दोंमे ही देख लेना उचित होगा :

> "यहां ...आश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भगवत्सेवा करनेको कहा है. भगवद्भाव (भगवद्विषयिणी रति) स्वात्मक है. गुप्त होनेपर ही स्वकी अभिवृद्धि होती है. अतः भगवद्भावको आश्रमधर्मोंद्वारा लोकमें प्रकट न करते हुए भगवत्सेवा करनी चाहिये, इस आशयसे आश्रमधर्म करने हेतु कहे गये हैं. अन्तःकरणमें साक्षात् भगवान्का प्राकट्य विरहदशामें होता नहीं. अन्तःकरणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य संयोगदशामें होता है. उस समय आश्रमधर्मोंद्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवल विरहदशामें भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है, संयोगदशामें नहीं. विरहदशामें विविध भावोंकी उत्पत्ति होनेसे नवधाभक्ति-भक्तधर्मोंद्वारा आश्रमधर्मोंका बाध विरहीमें हो जाता है. ...एवंच यहांपर आश्रमधर्मोंद्वारा अपने भगवद्भावको लोकमें छिपानेकी बात कही जा रही है नकि भगवद्दर्शन न करानेकी बात कही जा रही है. यह सिद्ध होता है.
>
> (विम.पृ.सं.७५-७६)

(उत्तरपक्ष)

[क]

महती लज्जाका विषय है कि निरन्तर सुबोधिन्यादि ग्रन्थोंके अवगाहनशील एक मान्य वृद्ध व्यक्ति 'पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज' का नाम इस ग्रन्थके कर्तृके रूपमें प्रचारित किया जा रहा है.

कभी तो यह अपने पितामहके बारेमें पौत्रोंके निगूढ़ द्वेषका एक प्रबल प्रमाण लगता है कि इस पराकाष्ठापन्न विचारहीन विधानके कतकि रूपमें उन्हें व्यर्थ बदनाम किया जा रहा है!

(१)सर्वप्रथम तो भगवद्भाव रसात्मक होता है, भगवान् भी रसात्मक होते हैं तथा सेवा भी भावात्मिका-रसात्मिका होती है तो "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते" न्याय यहां क्यों विस्मृत कर दिया गया है? इसका क्या कारण हो सकता है, यह समझमें नहीं आता है.

(२)यदि "गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है" नियम विमर्शकारको मान्य हो तो या तो सेव्य भगवत्स्वरूप एवं उनकी सेवा को असात्मक या रसाभासात्मक माने बिना उनके भी अगुप्त रहनेपर अर्थात् प्रकट करनेपर तनुजा-वित्तजाके तदैकप्रवणताक्रमेण मानसी अवस्थामें अभिवृद्धिकी सम्भावना निःशेष हो जायेगी. इसी तरह सेवात्मिका भक्तिकी भी रुचिप्रेमासक्तिके क्रमसे व्यसनावस्थापर्यन्त अभिवृद्धि अवरुद्ध हो जायेगी. भगवत्स्वरूपमें प्रमाणलीला-प्रमेयलीला-साधनलीला वैशिष्ट्य के क्रमसे फललीलावैशिष्ट्य पर्यन्त अभिवृद्धि अवरुद्ध हो ही जायेगी.

यदि किसी कारणके वश रसात्मक होनेपर भी भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा के प्रकट-अगुप्त रहनेपर अभिवृद्धिशील स्वभाव अवरुद्ध न होता हो तो पुनः "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते" न्यायसे नित्यभेंट फेंकनेवाले दर्शनार्थी एवं बड़ी रकम देकर मनोरथी बने सेठियाओंके समक्ष भगवद्भावको भी प्रकट करते रहनेपर वह भी "दिन-दिन बढ़त सवायो" होना चाहिये था. अन्यथा आश्रमधर्मोद्वारा जैसे भगवद्भावको लोकमें प्रकट न करते हुवे भगवत्सेवा करनी चाहिये, वैसे ही भगवानूको भी आश्रमधर्मद्वारा लोकमें प्रकट न करते हुवे भगवत्सेवा करनी चाहिये.

(३)इसके बाद विमर्शकारका यह विधान कि "अन्तःकरणमें साक्षात् भगवान्का प्राकट्य विरह दशामें होता नहीं है" न केवल श्रीहरिरायजीके शिक्षापत्रादि अनेकानेक ग्रन्थ ही अपितु महाप्रभु प्रभुचरण के भी वेणुगीत युगलगीत भ्रमरगीतकी सुबोधिनी टिप्पणीजीके अनेकानेक "आन्तरन्तु परं फलम्" जैसे विरहदशामें भगवान्के साक्षात् आन्तर प्राकट्यके निरूपक वचनोंके अनादरपूर्वक किया गया विधान है! दुःख इस बातका उतना नहीं कि यह देवलकतामोहवश किया गया विधान है—दुःख इस बातका समधिक है कि आजीवन सुबोधिनीके अनुशीलनमें परायण प्रातःस्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी फूफाजीके आत्मजोंद्वारा अपने पितामहके नामके साथ मिथ्यायोजनपूर्वक किया गया विधान है.

(४)"अन्तःकरणमें साक्षात् प्रभुका संयोगदशामें होता है उस समय आश्रमधर्मों द्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवलविरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है संयोगदशामें नहीं" इससे अधिक समुचित उदाहरण "मुखमस्तीति वक्तव्यम्" का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है! सामान्यतया तो 'संयोग'का अर्थ 'आन्तरसंयोग' न लिया जाता हो तो संयोगमें अन्तःकरणमें साक्षात् भगवत्प्राकट्य अश्रुतपूर्व तथा आकर ग्रन्थोंमें अदृष्टपूर्व निरूपण ही नहीं अनावश्यक भी है. संयोगमें कृष्णद्वैतघटित विरसताका जनक रासलीलामें भी "षोडशगोपिकासु अष्टौ कृष्णाः" का निरूपण इसी कृष्णद्वैतकी अनावश्यकतापर अवलम्बित है. कथंचित् "तुष्यतु दुर्जन" न्यायसे उसे स्वीकार भी लें तबभी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि बहिःस्थित भगवत्स्वरूपकी सेवाको विमर्शकार संयोग मानते हैं या विप्रयोग?

यदि संयोगदशा मानते हों तो अपने प्रभुकी पलना हिंडोला रास होली आदि दिव्य लीलाओंके भावोंवाली भावात्मिका सेवा करनेका अपना सम्बन्ध गुप्त रखना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं तो वदतोव्याघात! यदि रखना चाहिये तो प्रतिज्ञाहानि!

यदि विप्रयोग मानते हों तो दर्शनार्थी जनताके सान्निध्यवशाद् विप्रयोग है अथवा चित्तके स्वसेव्यसे संयुक्त न होनेके कारण विप्रयोग है? यदि दर्शनार्थी जनोंके सान्निध्यवशात् तो उनके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शन करना ही नहीं चाहिये ताकि विप्रयोग हो! यदि भगवत्संनिधिमें भी भगवद्विप्रयोग ही अभिष्ट हो तो सिद्ध हो गया कि दर्शनार्थी जनोंका ही संयोग अभीष्ट है, भगवद्विप्रयोगरूप फलके साधकतया . अतः स्वकृत भावानुवादके अनुसार भी खुले दर्शनोंमें पलना हिंडोला रास होली जैसी गूढ़लीलाओंके भावको तथा सम्बन्धको प्रकट करनेवाली सेवाको प्रकट करनेके बजाय, सन्ध्या तर्पण या अग्निहोत्र आदि आश्रमकर्मोंमें ही परायणता प्रदर्शित करनी चाहिये बजाय कि भगवत्सेवाके!

(५)अतः "संयोगदशामें आश्रमधर्मोद्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवल विरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है, संयोगदशामें नहीं" विधानके आसपासकी पंक्तियोंमें 'यावत्-तावत्' पदोंके 'जबतक-तबतक' अर्थ क्यों छोड़ दिये गये लगते हैं अथवा कहां हैं (द्रष्टव्यः विम.पृ.सं.१९५)? कहीं मूल पदोंके अर्थोंको छोड़नेका विमर्शकारका एकाधिकार तो नहीं है? वैसे तो स्वयं विमर्शकारका ही यहां निपातार्थके बारेमें अज्ञान प्रकट हुवा है, जब विमर्शकार पूछते हैं : "अणुभाष्यके वाक्यका गलत अर्थ क्यों?... उनका यह अर्थ भ्रामक प्रतीत होता है तथा विचारणीय भी है. क्योंकि 'यावत्' पदका कोषानुसार 'जबतक' अर्थ होता है 'तावदेव' पदोंका कोषानुसार 'तबतक ही' यह अर्थ होता है"(विम.पृ.सं.७६).

इस विषयमें वास्तविकता यह है कि कोषानुसार 'यावत्' के—

(१)साकल्य (२)अवधि (३)मान (४)अवधारण (५)काल (६)हेतु (७)सीमा (८)संभ्रम (९)पक्षान्तर (१०)विवरण.

इतने अर्थ मान्य किये गये हैं.

तदनुसार :

साकल्य="यावत् कार्यं कुरु", अवधि="मूलात् शाखां यावत् प्रकाण्डः",

मान="यावत्पात्रं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व", अवधारण="यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्", काल="यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति", हेतु="यावद् भवतु आहितसायकस्य", सीमा="यावत्पुरं वृष्णे देवः", संभ्रम= "यावत्सर्पकोडरम्", पक्षान्तर="स यावत् प्रियतां गतः", विवरण="बिडोजाः इन्द्रः इति यावत्".

अब विमर्शकार ही बतायें कि इनमेंसे कौनसा अर्थ उन्हें यहां भाष्यकाराभिप्रेततया अभिमत है!

क्योंकि 'साकल्य'अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ रचना कुछ ऐसी होगी : अन्तःकरणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य जितना नहीं होगा उतना ही बाहर आविष्करण होगा. प्राकट्य होनेपर बहिराविष्करण सम्भव नहीं रह जायेगा". इस व्याख्यानविधाके दोषका निर्देश करें!

'अवधारण' अर्थ लेनेपर भी करीब-करीब ऊपर दिया हुवा ही हिन्दी अनुवाद होगा परन्तु अर्थछाया बदली हुई होगी.

ऐसी स्थितिमें केवल कालार्थक 'यावत्'पदको लेनेके दुराग्रहका आडम्बर क्यों? निपातार्थज्ञानवश? तो वह समुचित अध्ययनसे निवृत्त हो सकता है! वित्तप्रदायक दर्शनार्थिजनोंके व्यामोहनार्थ? तो वह वृत्ति तो स्वसेव्यप्रभुमें शुद्ध भाव स्थापित करनेसे ही सुधर पायेगी.

वैसे 'जबतक'—'तबतक ही' अर्थ लिये जायें अर्थात् स्वयं विमर्शकारकी तरह छोड़ न दिये जायें तो किसी भी सूत्रमें मेरेद्वारा सिद्धान्तवचनावलीमें दिया गया भावानुवाद : "जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं हैं, वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है" यह सर्वथा सर्वथा सर्वथा निर्दुष्ट भावानुवाद ही है. कोई शाखाचंक्रमणशील ही ऐसी जगह रेखांकन करवा सकता है, मानवबुद्धिसे

सम्पन्न व्यक्ति तो नहीं, क्योंकि 'यावत्'-'तावदेव' पदोंके 'जबतक'-'तबतक ही' अर्थ लेनेपर भी किसी वृक्षपर लटकते आकाशमेंसे टपकते हृदयमें तो भगवत्प्राकट्य होता नहीं है. भगवत्प्राकट्यके हृदयमें होने या न होनेकी कथा ही किसी व्यक्तिके सन्दर्भमें प्रासंगिक होती है अन्यथा अप्रासंगिक ही. 'यावत्' पदके साथ 'यस्य' पदका; तथा 'तावदेव' पदोंके साथ 'तेन' पदका स्वारसिक ऊह अकामगलेपतित है. अन्यथा जबतक अन्तःकरण (*निर्वैयक्तिक*)में भगवत्प्राकट्य नहीं होता तबतक ही (*अकर्तादारा!*) बहिराविष्करण होता है ऐसा वदतोव्याघात होगा!

लगता है यह युक्ति अवश्य ही पु.सि.सं.शि.ने विमर्शकारको सुझाई है!

(६)जहांतक विमर्शकारकी बाललीलाका यहां प्रश्न है वहां कथनीय यही है कि रश्मिकारके अनुसार भी भाष्यकी इस पंक्तिका अन्वयार्थ पहले समझ लेते तो अच्छा होता. रश्मिकार कहते हैं :

''एतेन *यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं— *विरहे— नास्ति तावदेव— *गुप्तान्वयस्य— बहिराविष्करणं— *आश्रमधर्मद्वारा -भवति. *अन्तःकरणे—प्राकट्येतु तथा— *बहिराविष्करणं— न सम्भवति— *विरहे विविधभावोत्पत्त्या नवधाभक्ति-भक्तधर्मैः आश्रमध-र्माणां तादृशे बाधात्— * इति ज्ञापितं— *तात्पर्यवृत्त्या उक्तम्.''

अनुवाद : (१)इससे यह ज्ञापित— *तात्पर्यवृत्तिद्वारा कहा गया*— है कि (२)जबतक (किसी व्यक्तिके) अन्तःकरणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य— *विरहदशामें*— नहीं होता. तभी तक (उस व्यक्ति द्वारा)— *प्रभुके साथ अपने गुप्तसम्बन्धका / गुप्तसम्बन्धवाले अपने प्रभुका*— बाहर आविष्करण(=प्राकट्य=प्रदर्शन)— *आश्रमधर्म-द्वारा* (भी) होता (=हो पाता) है, (३)(विरहदशामें)— *अन्तःकरणमें*— प्राकट्य होनेपर वह— *बाहर आविष्करण*— सम्भव नहीं रह

जाता (४)*क्योंकि विरहदशामें विविध भावोंकी उत्पत्तिद्वारा नवधाभक्ति-भक्तधर्मोंद्वारा उस व्यक्तिमें आश्रमधर्मोंका बाध हो जाता है.*

इसमें सीधे अक्षर मूलवचनानुवाद है, तिरछे अक्षर व्याख्यानुवाद है तथा कोष्ठकान्तर्गत शब्द अनुवादकद्वारा योजित हैं. एतावता स्पष्ट हो जाता है कि (१)अधोरेखांकित अंशद्वारा, भक्तिनिरूपणके प्रसंगमें आश्रमधर्मोंका निरूपण तात्पर्यवृत्त्या द्योतित हो रहा है ऐसे अर्थके निरूपणकी प्रतिज्ञा है. (२)अधोरेखांकित अंशद्वारा प्रभुके हृदयमें प्रकट न होनेके कारण प्रकट होते दोष या न्यूनता की निन्दा है. (३)अधोरेखांकित अंशद्वारा अन्तःकरणमें भगवत्प्राकट्यवशात् प्रकट होते गुणकी प्रशंसा है. (४)अधोरेखांकित अंशद्वारा (२)+(३)अंशकी हेतूपपत्तिका निरूपण अभिलषित है.

ऐसी स्थितिमें भक्तिप्रकरणमें आश्रमधर्मके निरूपण करनेवाली श्रुति सिद्ध वृत्तकी निरूपिका है या साध्य वृत्य या कृत्य की विधायिका? यदि सिद्ध वृत्तमात्रका यहां निरूपण स्वीकारते हैं, जैसा कि झांसा विमर्शकार देना चाहते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सकलभक्तसाधारण वृत्तका निरूपण यहां अभिलषित है या कतिपय भक्तोंके? सकलभक्तसाधारण वृत्तका निरूपण स्वीकारनेपर वर्णाश्रमबाह्यत्व भक्तोंके बारेमें भी स्वीकारना पड़ेगा कि वे भक्त वर्णाश्रमबाह्यत्व होनेपर भी वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करने लग जाते हैं. यह न तो वाचनिक अर्थापत्तिद्वारा प्राप्त है और न प्रात्यक्षिक साक्ष्यसे सिद्ध होता है. कतिपय भक्तोंके सिद्धवृत्तका निरूपण स्वीकारनेपर नामोल्लेखरहित यह निरूपण (१)अर्धांशमें निन्दा अर्धांशमें स्तुति है अथवा (२)सर्वांशमें निन्दामात्र या सर्वांशमें स्तुतिमात्र है. यदि अर्धांश कल्पको स्वीकारते हैं तब भी निन्दाका तात्पर्य भगवद्भावके बहिराविष्करणके निषेधमें इसी तरह स्तुतिका तात्पर्य आश्रमधर्मोंसे भगवद्भावके संगोपनकी विधिमें पर्यवसित होगा. इसी तरह सर्वांशमें

निन्दा या सर्वांशमें स्तुति स्वीकारते हैं तब भी पर्यवसान वृत्तिसे उल्लिखित विधिनिषेधमें ही पर्यवसान स्वीकारना पड़ेगा. फलतः अगतिकतया श्रुतिका तात्पर्य साध्य वृत्यके विधानमें है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा.

वह साध्य वृत्य भगवद्भावके बहिराविष्करण=प्रदर्शनसे कण्ठोक्त निवृत्ति तथा आश्रमधर्मोंद्वारा भगवद्भावके संगोपनमें कण्ठोक्त प्रवृत्तिके सिवा और तो कुछ हो नहीं सकता. वह भगवद्भाव यदि भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका सेवाके सार्वजनिक प्रदर्शनमें बहिराविष्कृत होता ही हो तो घट्टकुटिमें प्रभात हो ही जाता है. क्योंकि स्वयं विमर्शकारको भी "आश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करते हुवे भगवत्सेवा करनेको कहा है. भगवद्भाव(भगवद्विषयिणी रति)रसात्मक है. गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है. अतः यहां अपने भगवद्भावको आश्रमधर्मद्वारा लोकमें प्रकट न करते भगवत्सेवा करनी चाहिए"(विम.पृ.सं.७५) अंशद्वारा सारे झांसोंके बावजूद कृत्योपदेशता तो स्वीकारनी ही पड़ी है. फलतः भक्तकी ऐसी कोई भी कृति (भगवत्स्वरूपप्रदर्शनात्मिका हो या भगवत्सेवाप्रदर्शनात्मिका हो) कि जिससे भगवद्विषयिणी रति प्रकट हो जाती हो तो उसे 'निषिद्धाचरण' तो कहना ही पड़ेगा.

क्योंकि विमर्शकारको, अन्यथा, निर्लज्जतया स्वीकारना पड़ेगा कि जब कोई पू.पा.गोस्वामी भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का प्रदर्शन करते हैं तब उनकी भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवामें रति नहीं किन्तु भगवद्विषयिणी अरति या भगवद्विषयक रत्याभास प्रकट होता है!

मैं तो इसे भी बिना नानु-नच स्वीकारने तैयार हो जाऊंगा परन्तु स्वयं अपने कण्ठ या लेखिनी द्वारा इसकी स्वीकृति दें अन्यथा सेवाप्रदर्शनकी निषिद्धाचरणता वज्रलेपायित ही रहेगी.

(७)इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजीकी भावप्रकाशिकामें मूलसूत्रभाष्यस्थ

मुख्यहेतुरूप *'अन्वय=सम्बन्ध'* पदको जो ज्ञापकहेतु है उसे कारकहेतु बनानेका क्या प्रयोजन है, यह समझमें नहीं आया!

भावप्रकाशिकाके अनुसार भी सूत्रभाष्यगत पदोंकी योजना इस तरह है :

> भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति आशयेन ते धर्मा उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह **अन्वयाद् इति.** यतो भगवता **समम् अन्वयं**=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते अतो हेतोः तथा. अत्र ('अन्वयाद्' इति हेत्वर्थकपदे) 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी. (भगवता सह सम्बन्धं प्राप्य वर्तते इति हेतोः.. तथाच सम्बन्धाभावएव आविष्करणं सम्भवति नतु सम्बन्धे सति) **एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिराविष्करणं भवति प्राकट्येतु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्.**

इससे यह सर्वथा स्फुट है कि जिसका प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़ गया वह तो भावका (अर्थापत्या भावात्मक प्रभु एवं भावात्मिका सेवाका भी) प्रदर्शन नहीं करेगा. यों भावानाविष्करणपूर्वक भगवद्भजनका यह ज्ञापक हेतु है. इसे दुर्भिसन्धिवशात् कारकहेतु बनाया गया है : "(१)अन्तःकरणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य संयोगदशामें होता है, उस समय आश्रमधर्मों द्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर (२)केवल विरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है". (१)अंशके अन्तर्गत भगवत्सम्बन्धको (२)अंशके बहिराविष्करणका कारक हेतु बना दिया है. किम् आश्चर्यम् अतः परम्!

यह यदि देवलकताप्रयुक्त दुर्भिसन्धि नहीं तो अधीत न्यायादिशास्त्रके साथ तो घोर 'अन्याय' ही कहा जायेगा.

(८)वेदान्ताधिकरणमालाका इस विषयमें क्या निरूपण है यह देख लेना भी उपकारक होगा : "गृहिणोपसंहाराधिकरणे... त्यागानुकल्परूपं गृहे स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति विचार्य... तस्य करणप्रकारः तदाधिक्यं, भगवद्भावस्य लोकेषु अप्रकटनं, भगवद्भजनव्यतिरिक्तसमये लौकिककरणं... विचारितम्. तेन 'विहितत्वात् च आश्रमधर्मापि' इत्यनेन यत् पूर्वम् उक्तं तस्य प्रकारो बोधितः." अर्थात् इस गृहिणोपसंहाराधिकरणमें ...जिनसे गृहत्याग शक्य न हो उन्हें तदनुकल्पतया घरमें रह कर (न कि सार्वजनिक-व्यावसायिक मन्दिरमें जाकर) भगवद्भजन करना चाहिये. यह विचार करनेके बाद... भगवद्भजन कैसे करना, कैसे वह अधिकाधिक अनुष्ठित हो पायेगा, भगवद्भावको लोकमें प्रकट न करने की बात, भगवद्भजनसे व्यतिरिक्त कालमें लौकिक कर्मोंको करनेकी बात... विचारी गई. इससे "विहित होनेके कारण आश्रमधर्म भी" अंशसे जो कुछ पहले कहा गया उसका प्रकार बोधित हुवा.

यहां स्वगृहमें भजनके एक आवश्यक अंगतया भावसंगोपनकी जो बात कही जा रही है वह शाखाचंक्रमणशील शाखामृगोपम बुद्धिवालोंकी बातोंको क्षम्य तथा उपेक्षणीय ही जानकर चलें तो भी इतना तो एकदम कूढ़के भी समझमें आ पानेवाली बात है कि भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका भगवत्सेवाके मुख्यांगभूत भावका संगोपन अर्थापत्तिद्वारा भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवाके भी संगोपनमें ही पर्यवसित होता है.

देवलकोंकी विवशताके लिये भी, अतः, यहां मानवीय सहानुभूति रखनेका भी कोई सैद्धान्तिक अवकाश नहीं! कुल मिलाकर इतनी सारी अष्टविध दुरुद्धर अनुपपत्तियोंके बावजूद यहां कृष्णसेवाप्रदर्शनका निषेध न मानना विमर्शकारका सर्वभक्तजनविगर्ह्य महासाहस ही सिद्ध होता है. अस्तु.

[ख]

सिद्धान्तवचनावली में उद्धृत "स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" (सा.दी.१०८) वचनको विमर्शकारने उचिततया पूर्णरूपेण उद्धृत किया है. फिरभी जो अवधेयांश छूट गया है उसे भी साथ-साथ सम्मुख रखनेपर वचन इतना है : "कुर्यात्. ...शृंगारं रंजितैः वस्त्रैः चित्रैः आभरणैरपि मायुसुकुटैः रम्यैः वेणुवेत्रैः सुमाल्यकैः वितानैः प्रसरैः शुभ्रैः प्रतिसरैः नवैर्नवैः जलक्रीडोपस्करैः च ताम्बूलामोददर्पणैः व्यजनैः जलभृंगारैः देशकालानुसारिभिः अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्." (सा.दी.१०५-१०८)

स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण पदराशिमें दो मुख्य विध्यर्थक क्रियापद हैं:'कुर्यात्' तथा 'प्रदर्शयेत्'; एवं, एक "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले"सूत्रनिर्दिष्ट अर्थमें ल्यबन्त क्रियापद है 'अलंकृत्यैव'. अतः जैसा कि विमर्शकारने यहां यहां झांसा दिया है उसमें का परस्पर विरोधाभास पहले अवलोकनीय है :

(१)सख्यभक्तिके बिना शृंगारके समय भगवान्का दर्शन वर्जित (विम.पू.सं.७८).

(२)"सख्यता बिना सिंगार होत समै काहूकों दरसन न होई यह मार्गकी मर्यादा है"(२५२ वै.वा.प्र.खं.३९५से उद्धृत विम.पू.सं.७८).

(३)ध्यातव्य है कि स्वकीय भक्तोंको भी भगवान्का दर्शन शृंगारके समय नहीं कराया जाता(विम.पू.सं.७८).

लगता है कि 'सख्यता' तथा 'स्वीयभक्त' होनेमें भी कोई गूढ़ अर्थभेद है. खैर... पूछनेका यों बनता है कि किसी भी तरहकी

भक्तिके बिना ही आजकल तो केवल नोकरीके लिये मुखिया-परिचारकोंकी बटालियन व्यावसायिक मन्दिरोंको चलानेको भगत्सेवार्थ नियुक्त होती है; तथा उन्हें शृंगार करते समय भगवान्‌के दर्शन न हो जायें ऐसे बाहर तो भेजा नहीं जाता! वार्तामेंसे उद्धृत वचनके अनुसार जबकि शृंगार किये जाते समय सख्यताके बिना दर्शन करानेका निषेध प्रतित हो रहा है. अतः इसके आधारपर "अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" की व्याख्या करनेका प्रयास किया गया है जबकि अलंकरणक्रिया एवं प्रदर्शनक्रिया के बीच पूर्वकालिक तथा उत्तरकालिक होनेका सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है.

पूछा जा सकता है भूतकृदन्त तथा वर्तमानकृदन्त के भेदका विलोपन क्यों?

यदि 'एव'कारसे व्यावर्त्य केवल वर्तमानकालिक अलंकरण हो तब तो प्रश्न उठ सकता है कि भविष्यत्कालिक अलंकरण क्यों नहीं? अर्थात् *"अलंकृत्यैव प्रदर्शयेत=अलंकुर्वन् न प्रदर्शयेत्"* तो इस 'एव'कारसे व्यावर्त्य *"अलंकृत्यैव प्रदर्शयेत्=अनलंकृत्वा न प्रदर्शयेत्= अलंकरिष्यन् वापि न प्रदर्शयेत्"* क्यों नहीं? मंगलाके दर्शन खोलनेके शिष्टाचारकी गवाही तो चल नहीं पायेगी. क्योंकि वह स्वीयभक्तोंके ही लिये केवल खोलने या स्वीयास्वीय-भक्ताभक्त सभीके लिये यही तो विप्रतिपत्तिग्रस्त विषय है. जिसका सिद्धवत्कृत्य हेतुतया उपयोग हो नहीं पायेगा.

अतः हठात् हमें यह विचारनेको विवश होना पड़ता है कि 'प्रदर्शयेत्' अपूर्वविधिका बोधक क्रियापद है या नियमविधिका अथवा परिसंख्याविधिका?

अत्यन्त अप्राप्त कृत्यकी प्रापिका अपूर्वविधिका बोधक तो इस वचनको माना नहीं जा सकता, क्योंकि इस विधानके बिना भी

कोई वित्तार्थी (देवलक) वित्तकामनाया स्वतः भी प्रदर्शन कर ही सकता है.

प्राप्त कृत्यको नियत बनानेके हेतु नियमविधिका बोधक वचन इसे माननेपर "नियमः पाक्षिके सति" वचनके अनुसार पक्षमें अप्राप्ति दिखलानी पड़ेगी. उस स्थितिमें नियमविधिभार [१]केवल प्रदर्शनक्रियापर मानना अथवा [२]अलंकरणपूर्वक प्रदर्शनक्रियापर या [३]स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या [४]स्वीय-भक्तान्यतर-कर्मक प्रदर्शनक्रियापर अथवा [५]प्रेमसाहित्य विशिष्ट-अलंकरणोत्तरकालिकत्वविशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर या [६]प्रेमं साहित्यविशिष्ट स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या [७]प्रेमसाहित्यविशिष्ट स्वीय-भक्तान्यतरकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या [८]प्रेमसाहित्य-विशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर?

[१]प्रथम कल्पमें केवल प्रदर्शनक्रियाको किसी भी तरह पाक्षिक अप्राप्त मानकर प्रदर्शन नियमके विधानको स्वीकारनेपर भी सख्यभक्तिके बिना शृंगार होते समय भगवत्प्रदर्शन वर्जित होनेका नियम सिद्ध नहीं होगा.

[२]अलंकरणपूर्वकप्रदर्शनपर विधिभार स्वीकारनेपर मंगला-शयनके दर्शन भी अलंकरणपूर्वक ही खोलने पड़ेंगे.

[३]स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनपर विधिभार स्वीकारनेपर विमर्शकारको अत्यन्त अनभिलषित नियम सिद्ध हो जायेगा.

[४]यही गति स्वीय-भक्तान्यतरकर्मक प्रदर्शनपर नियम विधिभार स्वीकारनेपर भी होगी.

[५]प्रेमसाहित्यविशिष्टालंकरणोत्तरकालिकत्वविशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर नियमविधिभार स्वीकारनेपर कतिपय आभूषण प्रेमसहित धराते प्रदर्शनका

नियम हो तो शृंगार धराते समय भी प्रदर्शन नियत हो जायेगा.

जिस दिन जितने शृंगार नियत हों उतने सकल आभूषण प्रेमसे धराते ही प्रदर्शन नियत हो तो जन्माष्टमीके दिन नियत सकल आभूषण धराकर शृंगार दर्शन खोलनेमें चरितार्थ हो जानेके कारण नवमीके पलनाके दर्शन कराना नियत नहीं रह जायेगा. यदि हस्तनिक सकल शृंगारके कारण प्रेमसहित अलंकृत तो ठाकुरजी तो हैं ही अतः नवमीके दिन भी प्रदर्शन नियत मान लेते हैं तो शृंगारके बाद गोपीवल्लभभोग-राजभोगादि समय भी प्रेमसाहित्यविशिष्टालंकरणपूर्वकता निमित्त विद्यमान होनेसे उस समय भी प्रदर्शन नियत हो जायेगा. किसी भी सूरतमें शृंगार धराते समय भगवत्प्रदर्शनका निषेध तो इस कल्पमें भी निकलता नहीं है.

(६)इस कल्पमें भी जो प्रेमसहित अपने भक्त दर्शनार्थी हों तभी प्रदर्शन नियत सिद्ध होगा.

(७)इस कल्पमें भी प्रेमयुक्तस्वीयजन; अथवा प्रेमयुक्त अस्वीयभक्त भी, यदि दर्शनार्थी बनकर आयें तभी भगवत्प्रदर्शन नियत माना जायेगा अन्यथा नहीं. ये छठे-सातवें दोनों ही कल्प विमर्शकारको तो अत्यन्त अनभीष्ट हैं.

(८)इस कल्पमें भी हृदयमें जब प्रेम उभरता हो तभी प्रदर्शन नियत होगा अन्यथा नहीं. अतः महाराजश्रीके परदेशमें बिराजनेपर दर्शन खोलने अनिवार्य नहीं रह जायेंगे. वेतनग्राही कर्मचारी मुखियाजीके हृदयमें प्रेम उभरनेको निमित्त माननेपर तो उन्हें नियामक भी मानना पड़ेगा.

इसलिये "अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्"को नियमविधिके रूपमें विमर्शकार मान्य कर नहीं पायेंगे. पुनश्च "सख्यता बिना सिंगार होते सभै काहूंको दरसन न होई यह मार्गकी मर्यादा

है" विधानमें सख्यता द्वापरयुगके गोपबालकों जैसी लेनेपर तो आधुनिक गोस्वामिसमुदाय तथा मुखिया-परिचारकों भी दर्शनसे वंचित होना पड़ेगा. अतः "गोस्वामिओंके साथ सख्यता एवं कृष्णभक्ति होनेपर दर्शनाधिकारिता" का अभिप्राय स्वीकारनेपर अर्थात् 'स्वीयभक्तता' को शृंगार धराते समय दर्शनार्थिके अधिकारलक्षणतया मान्य करनेपर "अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" विधानमें अलंकरणोत्तर कालिक प्रदर्शनमें ही स्वीयभक्तोंकी भी अधिकारिताके कारण अलंकरणकालमें उनकी भी अनधिकारिता ध्वनित होगी. "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" (पा.सू.३।४।२१,३७) अर्थात् किन्हीं दो पूर्वोत्तर क्रियाओंका कर्ता एकही हो तो पूर्वकालिक क्रियामें 'क्त्वा' अथवा उपसर्गसे जुड़ी होनेपर क्रियापदको 'ल्यप्' प्रत्यय लगता है. 'एव'कारसे उस क्रिया—प्रकृतमें अलंकरण क्रिया—की पूर्वकालिकताका अवधारण(=तदभावाप्रकारकतत्प्रकारकज्ञान) स्वीकारनेपर अर्थात् प्रभुको शृंगार धरा लेनेके बाद ही प्रदर्शनकी छूट होगी शृंगार धरानेसे पहले नहीं. ऐसा अर्थ लेनेपर न केवल धराते समय अपितु धरानेसे पूर्व शयन मंगलाके दर्शनोंका भी व्यावर्तन हो जायेगा. जबकि वर्तमानकालमें तो शयन मंगलाके नित्य प्रदर्शनोंमें ही प्रायः जनसम्मर्द अधिक होता है . इस "अलंकरणोत्तरकालिकताविशिष्टप्रदर्शन"में प्रदर्शन विशेष्यकोटिगत है तथा अलंकरणक्रिया विशेषणस्वरूपघटक होनेसे विशेषणान्तःपातिनी होगी. ऐसी स्थितिमें विशेषणान्वित या तो 'एव'कार "परंब्रह्मैव कृष्णः" की तरह अयोगव्यवच्छेदक होगा. अथवा अन्ययोगव्यवच्छेदक लेनेपर "परंब्रह्मान्यः कृष्णभिन्नः;"की तरह अन्योन्याभाव-बोधक होगा. दोनों ही कल्पोंमेंसे प्रथममें तो केवल "आलंकरणोत्तरकालिकमेव प्रदर्शनम्"कहने मात्रसे "सख्यभक्तिके बिना शृंगार होते समय भगवद्दर्शन वर्जित है" नियमका निरूपण सम्भव नहीं होगा. क्योंकि "प्रदर्शन कभी अलंकरणोत्तरकालिकतारहित नहीं हो सकता" बस इतना ही अर्थ निकलता है. 'प्रदर्शन' क्रिया द्विकर्मक होनेसे तत्स्वरूपनिष्पादक कारकतया स्वीयभक्तोंके भी अपरिहार्यतया लेना ही हो तब तो शयन-मंगलाके दर्शनकी निषिद्धताके अलावा शृंगार करते समय मुखिया-परिचारकोंकी

उपस्थिति भी वर्जित माननी पड़ेगी।

'एव'कारको अन्ययोगव्यवच्छेदक मान कर चलनेपर "यद् अलंकारणोत्तरकालिकक्रियातो अन्यत् कर्म तत् प्रदर्शनभिन्नं कर्म" अर्थ होगा. यहां भी प्रातःकालमें प्रभुको जगा कर मंगलाके दर्शन खोलनेकी क्रिया अलंकरणोत्तरकालिक क्रियासे इतर कर्म होती है परन्तु वह प्रदर्शनसे भिन्न नहीं होती. अतः विमर्शकारको जो अभिष्ट है वह सिद्ध नहीं हो पाता है. यहां भी द्विकर्मक क्रिया स्वरूपसम्पादक स्वीय भक्तको कारकतया अन्तर्निविष्ट माननेपर "यद् अलंकरणोत्तरकालिकक्रियातो अन्यत् कर्म जनसाधारणकर्मके मंगलाप्रदर्शनरूपं कर्म तत् स्वीयभक्तकर्मकप्रदर्शनभिन्नं कर्म" कहना मुश्किल होगा. क्योंकि जनसाधारणमें दो एक भी स्वीयभक्त दर्शनार्थितया सम्मिलित हों तो "स्वीयभक्तकर्मकप्रदर्शनसे भिन्न"तया सिद्ध नहीं हो पायेगा. एतदर्थ "स्वीयभक्तमात्रकर्मकप्रदर्शन" अर्थ लिया जाता हो तो 'एव'कार अलंकरणरूपा क्रियासे अन्वित होनेके बजाय "स्वीयान् भक्तानेव"से अन्वित हो जायेगा. यह पुनः विमर्शकारके लिये महती विपत्ति सिद्ध होगी.

अतः न तो अपूर्व विधि, न नियमविधि; और, न अलंकरणक्रियान्वित एवकारप्रयुक्त व्यावर्तनवशाद् ही विमर्शकारको अभीष्ट अर्थ इस वचनका प्रतिपाद्य विषय हो सकता है. प्रस्तुत वाक्यविषय सुस्पष्टतया स्वीयत्वास्वीयत्वान्यतरविशिष्ट भक्तकर्मक देवलकत्वादिमोहजन्य उभयत्र रागप्राप्त प्रदर्शनके परिसंख्यानार्थ ही सिद्ध होता है कि "स्वीयान् भक्तानेव प्रदर्शयेत्" ऐसी स्थितिमें 'एव'कार एवमर्थक भी हो अथवा अवधारणार्थक (उदा. : "त्वमेव देव! जानासि" अर्थात् "तुम स्वयं जानते हो" आवश्यक नहीं कि एतावता इतरव्यावर्तन द्वारा दूसरा न जानता हो) अथवा वाक्यपूरणार्थक भी हो सकता है.

यहां यह अवधेय है विशेष्यकोटिमें भक्तके उल्लेखके कारण

अभक्तके सन्मुख तो भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन परिसंख्याविधिद्वारा ही व्यावर्तित है. 'स्वीय' विशेषण उन भक्तोंमें भी जो स्वीय न हों उनके व्यावर्तनार्थ फलित होता है. अर्थात् कुलसम्बन्धाभाववश स्नेहसम्बन्धाभाववश या साधर्म्यसम्बन्धाभाववश जो अस्वीय हों उनके व्यावर्तनार्थ है. पारिशेष्याद्, प्रभु अलंकृत हों या अनलंकृत, स्वगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन जो भक्त हो परन्तु स्वीय न हो अथवा स्वीय हो परन्तु भक्त न हो, ऐसे किसीको भी स्वतःप्रवृत्त हो कर नहीं करना चाहिये. कोई हठात् या यदृच्छया दर्शन पा लेता है एतावता सेवाकर्ता दोषभाक् नहीं बनता. स्वतःनिषिद्धाचरणार्थ प्रवृत्त न होनेके कारण, यह परिशेष्यात् लब्ध निष्कर्ष है. यही श्रीगोपीनाथप्रभुचरणकी "...अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" आज्ञाका स्वारसिक अर्थ निकलता है.

मूलमें ये कारिकायें सर्वनिर्णय निबन्धकी महाप्रभूपदिष्ट जिन कारिकाओंके सारसंग्रहतया एवं भाष्यतया लिखी गई हैं उनपर भी दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

कारिका :

यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि।
अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरस्सरम्॥
भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेद्॥
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखा।

प्रकाश

यथा सुन्दरतां यातिइति. सप्रेम इति अनुद्वेगार्थम्. स्थानम् मन्दिरं, तदलंकारपूर्वकमेव भगवदलंकरणं कर्तव्यम् इति अर्थः. एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह भार्यादिः अनुकूलः चेद् इति. भार्यादिकं गृहं, विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयः. अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन् मार्गे

न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति (त.दी.नि.२।२३०-२३१)

कारिकानुवाद:

जिस तरह वे सुन्दर लगने लगें उस तरहके वस्त्रों तथा आभूषणों से प्रभुको प्रेमसहित अलंकृत करना चाहिये. इनसे भी पहले उनके बिराजनेके स्थलको अलंकृत करना चाहिये. पत्नी आदि पारिवारिक जन अपनी भगवत्सेवाके अनुकूल हों तो उनसे भी भगवत्कार्य करवाना चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करना चाहिये तथा प्रतिकूल होनेपर गृहका त्याग करना चाहिये.

प्रकाशानुवाद:

'जिस तरह सुन्दर लगने लगे' यहां 'प्रेमसहित' कहनेका अभिप्राय जिस तरह अलंकृत करनेसे उद्वेग न होता हो उस तरह सेव्य प्रभुको अलंकृत करना चाहिये. 'स्थल' यानि प्रभुके बिराजनेका मन्दिर, इस तरह मन्दिरको सजानेके बाद ही प्रभुको शृंगार धराना चाहिये. इस तरह जो भगवत्सेवामें प्रवृत्त हुवा हो उसे अपनी पत्नी आदिका भी भगवत्सेवामें विनियोग करना चाहिये. 'गृहके त्याग' का अर्थ है— अपनी पत्नी आदि परिवारके जनोंका त्याग. त्याग इनके विष्णुपराङ्मुख अर्थात् अवैष्णव होनेपर करना चाहिये. अन्यथा परित्याग करनेपर दोष लगता है. इस कथनका आशय यही है कि अवैष्णव (वैष्णवविरोधी)के साथ इस पुष्टिमार्गमें रहना नहीं चाहिये.

ऐसी स्थितिमें प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीने भी जो ''अलंकृत्यैव सप्रेम'' कहा है उसका आशय ''अनुद्वेगार्थं अलंकरण करके ही'' ऐसा लिया जाना ही अधिक उचित लगता है बजाय कि विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित व्याख्यारीतिके. इसी तरह प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी जब 'स्वीयान्' पदका प्रयोग कर रहें हैं तब उन्हें महाप्रभुनिर्दिष्ट 'भार्यादि' ही विवक्षित

है; तथा जो 'भक्तान्' पदका प्रयोग किया उसकेद्वारा भी महाप्रभुनिर्दिष्ट 'अनुकूल:' विशेषण ही विवक्षित है. इसका मुख्य कारण यही है प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीतो अपने पितृचरण महाप्रभुके उपदेशानुसरणशील पुत्र हैं अत: वैष्णव-अवैष्णव सबको दर्शन करानेकी विमर्शकारके जैसी मनोवृत्ति प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीमें सम्भव नहीं है.

विमर्शकारके हृदयको दु:सह आघात पहुंचानेवाली बात तो हमनाम टिप्पणीकार श्रीकल्याणरायजीने कही है : 'अनेनेति'. 'न स्थातव्यम्' इति उपलक्षणमेव अवैष्णवानां सिद्धान्नमपि न ग्राह्यम्...''(यहीं). पुन: यहां 'सिद्धान्न'को द्रव्यका उपलक्षण मान लिया जाये तो निश्चय ही विमर्शकारके हृदयको आघात लग सकता है कि दर्शनकी छूट माननेका कोई आर्थिक लाभ नहीं रह जायेगा.

[ग]

वैसे यह एक हकीकत है कि श्रीहरिरायचरणने ६६ अपराधोंमें इसी अवैष्णवसंगकी वर्ज्यताको लक्षमें रखकर 'स्वीयभक्त' अथवा 'अनुकूलभार्यादि' दोनों अर्थों एकहेलया कहनेवाला— ''११ तमो अपराध: = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं = वार्षिकसेवा निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्'' निरूपण किया. स्पष्ट है कि यही बात श्रीहरिरायचरण भावप्रकाशमें भी दुहरा रहें हैं— ''अपने श्रीठाकुरजीके दर्शन अन्यमार्गीको न करावने यहु जतायो''(२५२ वैष्ण.वा.३८।१). यहां विमर्शकारद्वारा किया गया कुविमर्श यों है : ''यद्यपि अन्यमार्गीयोंको अपने सेव्यस्वरूपका दर्शन कराना निषिद्ध प्रतीत होता है तथापि अन्यमार्गीयोंको भी दर्शन करानेकी परंपरा दृष्टिगोचर होनेसे उक्त वाक्यका तात्पर्यार्थ अन्य ही कुछ होना चाहिये'' (विम.पृ.सं.७८).

इसके बाद वार्ता-वचनामृतोंसे कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि अभक्तको दर्शन नहीं कराने चाहिये परन्तु

भक्त कोई भी चाहे स्वीय या अस्वीय हो उसे दर्शन कराये जा सकते हैं. अतएव "भगवन्तं सप्रेम अलंकृत्यैव स्वीयान् प्रति प्रदर्शयेत्" तथा "भगवन्तं सप्रेम अलंकृत्यैव भक्तान् प्रति प्रदर्शयेत्" इस तरह वाक्यभेदको प्रस्तावित किया है!(विम.पृ.सं.८०) व्यावसायिक भगवत्सेवाप्रदर्शनको आंच न आये एतदर्थ अश्रुतपूर्व भगवद्दर्शन करानेके सम्बन्धमें व्यवस्था भी प्रस्तावित की है कि "भगवद्दर्शन करनेके लिये जो कोई आता है, भगवद्भक्त होगा इस भावनाको रख कर ही उसे भगवान्का दर्शन कराना उचित है, नकि उसे अभक्त जानते हुवे"(विम.पृ.सं.८०).

श्रीहरिरायचरणद्वारा निरूपित — "अवैष्णवके समक्ष स्वसेव्यका प्रदर्शन करनेपर वार्षिकसेवाकी निष्फलता" — के बारेमें भी विमर्शकारका कहना है कि यहां 'अवैष्णव' पदका अर्थ 'अभक्त' कर लेना चाहिये. क्योंकि श्रीगुसांईजीने मीराबाईको श्रीनाथजीके तथा गोविन्ददास खवासको मन्त्रोपदेशके पूर्व भी श्रीनवनीतप्रियाजीके दर्शन कराये थे (विम.पृ.सं.८१)

विमर्शकारका यह भी कहना है कि साधनदीपिकामें श्रीगोपीनाथजीने विवक्षित न होनेके कारण — "अलंकृत्यैव सप्रेम स्वभक्तानेव दर्शयेत्" नहीं कहा अन्यथा कहते ही.

प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीने तो, "अलंकृत्यैव स्वीयान् वा भक्तान् वापि प्रदर्शयेत्" भी नहीं कहा! अतः इस कल्पको भी विमर्शकार अविवक्षित क्यों नहीं मान लेते?

रही बात विमर्शकारद्वारा प्रस्तावित भगवद्दर्शनसम्बन्धी व्यवस्थाकी कि "स्वीयबुद्धिसे अथवा भक्तबुद्धिसे सभीको या किसीको भी अपने आराध्यके दर्शन करानेमें कोई दोष नहीं है". तब तो "कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये" (पा.सू.३।४।२९) नियमके अनुसार प्रभुचरणने

"अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयदर्शं प्रदर्शयेत्" अथवा "अलंकृत्यैव सप्रेम भक्तवेदं प्रदर्शयेत्" क्यों नहीं कहा? लगता है कि विमर्शकाराभीष्ट यही व्यवस्था प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीको सर्वथा अविवक्षित ही नहीं अनभिमत भी है.

महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा कराये गये दर्शनोंको लेकर विमर्शकारके द्वारा उठाया गया प्रश्न तो वार्ताविमर्शकी विशोधनिकामें सुविशदतया निरस्त कर दिया जायेगा. वैसे दिङ्निर्देश यहां भी संग्रहकारिकामें प्रस्तुत कर ही दिया गया है.

संग्रहकारिका

भावः प्रमाणं भगवान् प्रमेयः फलं तदेकप्रवणं हि चित्तम्॥
तत्साधनं यत्तनुवित्तजन्यं चतुष्टयं पुष्टिगृहे सुगोप्यम्॥१॥
देहाभिमाने सति शास्त्रसिद्धैः स्वकीयवर्णाश्रमधर्मरूपैः॥
यद्वा स्वधर्मैरपि लोकसिद्धैः अवर्णिनां पुष्टिपथानुगानाम्॥२॥
तद्विप्रयोगे शिथिलेऽभिमाने प्रदर्शनं नैकतमस्य शक्यम्॥
वक्तुं तु वैकल्यवशात्कदाचित् प्रकृष्टभावे प्रकटेऽपि जाते॥३॥
स्वार्थप्रतिष्ठाप्रतिपत्तिकस्य प्रकारएष स्वगृहे स्थितस्य॥
देवालयेऽवस्थितविग्रहस्य प्रदर्शनं नैव निषिध्यतेऽत्र॥४॥
सर्वाधिकारे हि निदर्शनं चेद् निवेदनार्हकृतदर्शनं यत्॥
पाणिग्रहोऽपीह कुमारिकायाः अनूढनार्या रमणे प्रमाणम्॥५॥
तस्मात्तु या साधनदीपिकायां स्वकीयभक्तस्य कृते ह्यनुज्ञा॥
स्वार्थप्रतिष्ठाविषयप्रभोर्वै प्रदर्शनस्य प्रकटीकृता सा॥६॥
प्राज्ञैः कृतं यच्च प्रदर्शनं तत् परार्थदेवालयसंस्थितस्य॥
श्रीशस्य सर्वोद्धरणव्रतस्य निदर्शनं तस्य कुभावचोद्यम्॥७॥
रूढार्थमोषेण विलक्षणार्थो विमर्शकारेण विभाषितो यो॥
त्यागोपदेशाप्तनिषिद्धतायै तिलाञ्जलिं यच्छति सर्वथायम्॥८॥

सोऽर्थश्चेत्थम्

नो वैष्णवत्वं नच भक्तिमत्त्वं न स्वीयता सन्ति नियामकानि॥

स्वाराध्यसंराधनसम्प्रदर्शे नियामका स्यान्मतिरीदृशी वै॥९॥
भूतिप्रतिष्ठापदमोहजाता निषिद्धतायाः कुविमर्शरीतिः॥
धर्म्यं वदेद् गोत्रमतेरभावे सगोत्रकन्याकरपीडनं वै॥१०॥
विधिनिषेधकवाक्यविवेचने त्रिदिववारवधूरमणं भवेद्॥
मुनिकृतं गमकं कृतिनिर्णये तदलमेव तदुक्तिविचिन्तनैः॥११॥
विधौ वा निषेधे निजाचार्यवाण्यां
तदाचारतो लक्षणामाश्रयन्ति॥
मुधैव प्रमाणं च तां कल्पयन्ति
वरं ते हि ये न प्रमाणं वदन्ति॥१२॥

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्यामममनोहरेण विरचिता
'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श' विशोधनिका

पुष्टि-अस्मिता

दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्यएव अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात्? परम् उद्गतो न अपेक्ष्यते.

(सुबोधिनी : १०।६०।२९).

स्वयं कोइ भगवदीय होय तो क्या भयो! थोड़ो सो तो दर्प हृदयमें रखनो ही चहिये, अन्यथा ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के बीच अन्तर ही क्या रह जायेगो? या दर्पकुं, परन्तु, व्यवहारमें सर्वदा उभारते रहवेकी अर्थात् बाह्यप्रदर्शनकी अपेक्षा नहीं.

(१)निष्ठाभावे फलं तस्मात् नास्त्येवेति विनिश्चयः, निष्ठाच साधनैरेव न मनोरथ-वार्तया.

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१८).

(१)कोई भी मार्ग निष्ठाके अभावमें फलप्रद हो ही नहीं पावे. ये निष्ठा फल पावेके केवल मनोरथ या केवल वाणीविलास के द्वारा नहीं परन्तु साधनन्के अनुष्ठानद्वारा ही प्रकट हो पावे हे.

(२/क)यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः.

(सुबोधिनी : २।९।१९).

(२/ख)यदैव कृष्णो रोचते तदैव विषयाः न

रोचन्ते.

(सुबोधिनी : १।६।२७).

(२/क)जो व्यक्ति स्वार्थवश भगवान्‌की सेवा करे है वाकुं तो अधम अधिकारी समझनो चहिये.

(२/ख)जब कृष्ण अच्छो लगनो शुरु होवे तो विषयं अच्छे लगनें बंद होवे लगें.

(३/क)गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते.

(सुबोधिनी : १०।१८।५).

(३/ख)अगुप्तस्तु रसाभासः स्यात्.

(सुबोधिनी : १०।५६।४४).

(३/क)रस जब तक गुप्त रहे तभी तकं रस होवे.

(३/ख)जो भाव गुप्त न रह पायो वो तो रसाभास बन गयो.

(४)लक्ष्मीकलत्राय किम् अस्ति देयम्!

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१).

(४)जिनकी पत्नी स्वयं श्रीलक्ष्मी हें एसे भगवानकुं अपन क्या दे सकें!

(५)जो ठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं. अरु मेरो सेवक (=गहप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणको सेवक अर्थात् वंशज भी) भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहुं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो.

(घरुवार्ता : प्रसंग ३).

(६)पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि.

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।२५३-२५४).

(६)प्राण कण्ठमें भी आके क्यों न अटके होंय पर श्रीमद्‌भागवतको पाठ धनोपार्जनार्थ तो कदापि नहीं करनो चहिये – सप्रयत्न सर्वहेतुरहित ही श्रीमद्‌भागवतको पाठ करनो चहिये.

(७/क)धनाभिनिविष्टचित्ताः न भगवत्सम्मुखाः भवन्ति, बालाएव ते स्तनपानव्यग्राः मातरमेव मन्यन्ते.

(सुबोधिनी : ३।१६।२०).

(७/ख)'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव.

(सिद्धान्तमुक्तावली.प्रकाश : १६-१७).

(७/क)जिनको चित्त धनमें ही लग्यो रहतो होय वे कभी भगवत्सम्मुख नहीं हो पावें. वे तो ऐसे दूधमुहें छोटे बालकन्‌के जेसे होवे हें जो केवल मांकुं ही जानते होंय – अर्थात् अपने पिताकुं जो अभी पहचान ही न पाये होंय.

(७/ख)'लोक' पदको अर्थ हे – लौकिक विषय. लौकिक विषयन्‌की कामना रखनेवालो, यदि श्रीकृष्णभजन करतो भी होय ओर वाके द्वारा वाकुं कुछ प्राप्त भी हो जातो होय तो वो व्यापारकी तरह अनर्थरूप ही होवेसूं, वाको कियो-धर्यो सब कुछ क्लेशरूप ही होवे हे.

(८)यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं

नास्ति तावदेव बहिर् आविष्करणं भवति.

(अणुभाष्य : ३।४।४९).

(८)जब तक प्रभु साक्षात् स्वयं हृदयमें नहीं प्रकटें तभी तक भावन्को बाह्यप्रदर्शन सम्भव हे.

(९/क)चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा.

(सिद्धान्तमुक्तावली : २).

(९/ख)बीजदाढर्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा...भजेत् कृष्णम्.

(भक्तिवर्धिनी : २).

(९/क)चित्तकुं भगवान्में तल्लीन बनानो होय तो अपने तन ओर अपने ही धन सूं भगवत्सेवा करनी चहिये.

(९/ख)भक्तिके बीजभावकुं दृढ़ करवेको उपाय तो स्वयं अपने घरमें भगवद्भजन करनो ही हे.

(१०)तस्मात् श्रीवल्लभाख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः.

(श्रीवल्लभाष्टक : ३)

(१०)यालिये हे श्रीवल्लभ! जो शास्त्रवचनन्को अर्थ आपके वचनसूं विपरीत निकालें उनकुं तो सहज असुर अर्थात् केवल अन्धन्तमो नरकमें गिरनेवाले ही जाननो चहिये.